विचार और अनुभूति

डा० नगेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्०

गौतम बुक डिपो, दिल्ली

प्रकाशक
गौतम बुक डिपो
दिल्ली

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
नई दिल्ली

मूल्य ४)

निवेदन

इस पुस्तक के विषय में मुझे केवल एक बात कहनी है। वह यह कि इसमें जो निबन्ध सङ्कलित हैं उनकी रचना किसी एक प्रेरणा-भाव से दबकर एक ही समय में नहीं हुई। कुछ निबन्ध आज से चार-पाँच वर्ष पहले के भी लिखे हुए हैं। इसलिए आप इन सभी में हिन्दी-साहित्य की नवीनतम घटनाओं और प्रवृत्तियों का उल्लेख अथवा विवेचन मत खोजिए। साहित्य की गतिमयी धारा में इस बीच अनेक परिवर्त्तन हुए हैं, स्वयं मेरे दृष्टिकोण मे संकोच-विस्तार हुआ है जो कि व्यक्तित्व-विकास के साथ अनिवार्य ही था।

'विचार और अनुभूति' के कुछ पूरे निबन्ध—जैसे गुलेरीजी की कहानियाँ, वाणी के न्याय-मन्दिर में, महादेवी की दो नवीन अभिव्यक्तियाँ, त्यागपत्र और नारी—तथा हिन्दी उपन्यास के कुछ अंश ऑल-इण्डिया रेडियो दिल्ली के सौजन्य से प्रकाशित हो रहे हैं।

कॉमर्सियल कॉलेज हॉस्टल, दिल्ली।
शरद् पूर्णिमा १९९१
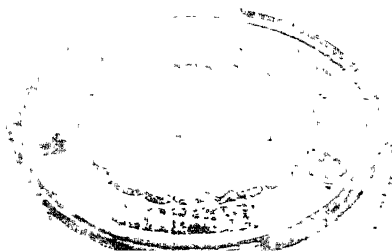
नगेन्द्र

दूसरा संस्करण

"विचार और अनुभूति" का यह दूसरा संस्करण है। कुछ विशेष सुविधाओं के कारण यह दिल्ली से ही छप रहा है। पहले संस्करण के मुद्रण-प्रकाशन आदि पर जगदीश भाई की सुरुचि की जो छाप सर्वत्र वर्तमान थी, वह तो इसमें नहीं मिलेगी—फिर भी शर्माजी ने इसको अत्यन्त मनोयोगपूर्वक प्रकाशित किया है, और इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

दिल्ली

—नगेन्द्र

क्रमणिका

१

कवीन्द्र के प्रति

एक प्रशस्ति

कविगुरो ! तुम्हारा ध्यान आते ही मेरे सम्मुख एक विराट् पुरुष-मूर्ति का चित्र उपस्थित हो जाता है जो भारत के कन्धों पर खड़ी हुई समस्त विश्व का आलिंगन करने के लिए बाँहें पसार रही है।

तुम्हारे व्यक्तित्व को भारत ने बड़ी ममता से अपने अनेक उपकरणों से गढ़ा था। उसने तुम्हें अपनी आनन्दमयी आत्मा, अपना गहन रहस्यदर्शी मस्तिष्क और सबसे अधिक अपना भावोष्ण हृदय दिया था। तुम्हारा व्यक्तित्व भारत की विराट् संस्कृति का प्रतीक था—उसमें वेदों का भय-श्रद्धा-समवेत विस्मय, उपनिषद् की अतल जिज्ञासा, वैष्णव धर्म की तीव्र भक्ति-भावना और आधुनिक युग का अदम्य विद्रोह था। भारत ने अपना सत्य, शिव, सुन्दर तुममें साकार कर दिया था।

सत्य-द्रष्टा ! तुम्हारी पारदर्शिका आँखें जग के भौतिक आवरण को बेधती हुईं उसके अन्तर-तत्त्वों पर जाकर टिकती थीं। तुमने विश्व की सत्ता को अखण्ड रूप में प्राप्त करके जीवन के रहस्यों का उद्घाटन किया। तुम्हारी आप्त वाणी आज की भौतिकता के विरुद्ध एक ललकार थी। तुमने पदार्थ का तिरस्कार न करके उसी की दिव्यता का प्रतिपादन किया—भोग की स्वर्गिक महिमा का गान करने वाले तुम पहले ऋषि थे।

शिव-संकल्प ! तुमने पूर्व और पश्चिम को अपने अमर स्वरों में बाँध दिया, और देश-देश में खण्डित मानवता को पुनः समन्वित करके विश्व-मानव का निर्माण किया, जिसकी आत्मा में पूर्व की तपस्या और शरीर में पश्चिम की कला थी। कञ्चन के महलों में रहकर तुमने धूलिशायी की पीड़ा का अमर गान किया—पद्-दलित और त्रस्त मानवता तुम्हारी वाणी को सुन-कर आश्वस्त हो गई।

सौन्दर्य-स्रष्टा ! तुम्हारी सृष्टि में रूप का पारावार हिलोरें ले रहा है। विश्व-कामिनी ने मानो वाञ्छित आराधक पाकर अपने अङ्ग-अङ्ग का सौन्दर्य-

रहस्य तुम्हारे सामने खोलकर रख दिया और तुम्हारी आत्मा उसका पान करके रूप-विह्वल हो उठी। अर्चना समाप्त करके ज्यों ही तुमने अपनी छवि-मदिर दृष्टि का उन्मेष किया, वसुधा का कण-कण स्वर्ग के सौन्दर्य से जगमगा उठा।

युग-पुरुष! संसार ने तुममें युग-धर्म का साक्षात् दर्शन किया। भारत का प्राचीन और नवीन तुम्हारे व्यक्तित्व में एकरूप होकर उसके लिए अपना सन्देश बन गया। घर में ही माँ की वन्दिनी मूर्ति को देखकर तुम्हारा अन्तर्बाह्य काँप उठा, और तुम्हारी प्रताड़ित आत्मा का चीत्कार दुर्धर सींखचों को हिलाने लगा—"इस मृत्यु का उच्छेद करना ही होगा, इस भय-पाश का कृतान्त करना होगा—यह एकत्र हुई जड़ की राशि मृत—निस्सार पदार्थ दूर करना होगा"—और अन्त में गौरव-दीप्त मस्तक ऊँचा करके तुमने यह घोषणा कर ही दी—" हे दिव्यधामवासी देवताओ, तुम्हारी तरह हम भी अमृत के पुत्र हैं—हम भी अमृत के पुत्र हैं।"

भारतीय जागरण के अग्रदूत! तुम प्राची के आँगन में बाल-रवि के समान उदित हुए, तुम्हारी प्रखर किरणों ने भारत के जड़ीभूत अंधकार को विदीर्ण कर दिया—ज्यों-ज्यों तुम अपना स्वर ऊँचा करते गए हमारे रूढ़ि-बन्धन शिथिल होते गए। हमारे जागरण का इतिहास तुम्हारे ही विकास का तो इतिहास है। भारतीय जीवन के एक विशाल युग पर तुम्हारा व्यक्तित्व प्रसरित है। हमारे युग ने अपनी जागृति के शैशव में तुम्हारे ही जागरण-गान गाये, यौवन में तुम्हारी ही रस-स्नात रचनाओं का आनन्द लिया और प्रौढ़ावस्था में, हे मर्मी, तुमने ही उसे आत्मा का रहस्य-चिन्तन सिखाया। देश के एक विस्तृत भू-भाग के हँसने और रोने में करुणा, और क्रोध में, प्रेम और घृणा में तुम्हारे गीतों की प्रतिध्वनि अब भी गूँजती है।

आज जब तुम्हारे ही अपने शब्दों में—रक्तवर्ण मेघों में शताब्दियों के सूर्य अस्त हो गए हैं, जब हिंसा के उत्सव में अस्त्रों की झंकार के साथ-ही-साथ मृत्यु की भयङ्कर उन्माद-रागिनी बज रही है, जब भद्रवेशिनी बर्बरता पङ्क-शय्या से जगकर उठी है, जब कवियों का स्वर श्मशान-श्वानों की छीना-झपटी के गीत अलाप रहा है, हे विश्व-शान्ति के गायक, तुम्हारे स्वर सदा के लिए मौन हैं। आज तुम्हारी विश्व-प्रिया अर्द्धनग्न होकर, दोनों बाँहें शून्य में पसारे हुए रक्तार्द्र स्वरों में कह रही है: " जेते नाही देबे"—तुम्हें न जाने दूँगी! तुम्हें नहीं जाने दूँगी!

२

साहित्य की प्रेरणा

कविता-पाठ समाप्त करके ज्यों ही कवि ने अपना स्थान ग्रहण किया, रस-विमुग्ध सुन्दरी बोल उठी, "इन कविताओं की प्रेरणा तुमको कहाँ से मिलती है, कवि ?"

कवि ने सुन्दरी के आर्द्र-आयत नयनों की ओर एक बार दृष्टि उठाई, फिर चुप हो गया। कुछ देर प्रतीक्षा करने के बाद सुन्दरी ने प्रश्न को फिर से दुहराया।

इस बार कवि सुन्दरी के नेत्रों में दृष्टि गड़ाये उनकी ओर तब तक देखता रहा जब तक कि उसकी आँखें पूर्णतः वाष्प-धूमिल न हो गईं; लेकिन मुँह से बोला कुछ भी नहीं।

सुन्दरी का कौतूहल और उत्कण्ठा अब और भी बढ़ गई। उसने तीसरी बार फिर उत्तर के लिए आग्रह किया। इस मधुर आग्रह को कवि अब और न टाल सका। बोला, "सुन्दरी, उत्तर तो तुम्हें मेरी इन आँखों ने दे ही दिया। लेकिन शायद तुम उसे समझीं नहीं। तो सुनो : अभी तुमने देखा कि तुम्हारी आँखों को देखते-देखते मेरे मन के गहन स्तरों में सोई हुई वासना-रूप पीड़ा एक साथ द्रवित होकर आँखों में आ गई—मेरी कविता के स्फुरण की ठीक यही कहानी है। सौन्दर्य के उद्दीपन से जब जीवन के सञ्चित अभाव अभिव्यक्ति के लिए फूट पड़ते हैं तभी तो कविता का जन्म होता है। कविता के उद्रेक के लिए सौन्दर्य का उद्दीपन अर्थात् आनन्द और अभाव की पीड़ा दोनों का संयोग अनिवार्य है—अभाव की पीड़ा में जब मुझे माधुर्य की अनुभूति होने लगती है तभी मेरे मानस से कविता की उद्भूति होती है—केवल आनन्द या केवल पीड़ा कविता की सृष्टि नहीं कर सकती। मैं बस इतना ही जानता हूँ, इससे अधिक जानने की इच्छा हो तो (सामने बैठे श्वेतजटाश्मश्रु आचार्य की ओर संकेत करते हुए कहा) गुरुदेव की शरण लो।"

सुन्दरी की जिज्ञासा अभी पूर्णतः शान्त नहीं हो पाई थी, निदान उसने आचार्य की ओर जिज्ञासु दृष्टि से देखा।

आचार्य ने ईषत् हास्य के साथ कहना शुरू किया : "कवि ने स्वयं अपनी प्रेरणा की जितनी सुन्दर व्याख्या की है उतनी मेरी शक्ति से बाहर है, परन्तु मैं समझता हूँ कि शायद कवि की कविता के बाद तुम्हें आचार्य के गद्य की भी आवश्यकता है। अच्छा सुनो, हमारे शास्त्र में काव्य की प्रेरणा का सीधा व्याख्यान नहीं मिलता। यह तो नहीं माना जा सकता कि भारतीय साहित्यकार इससे सर्वथा अपरिचित था। उदाहरण के लिए कविता के प्रथम स्फुरण से सम्बद्ध यह जन-श्रुति ही इसका अकाट्य प्रमाण है :

'यत्क्रौञ्चमिथुनादेकम् अवधीः काममोहितम्।'

इसमें काम-मोहित अवस्था में क्रौञ्च के वध से उत्पन्न करुणा की प्रेरणा स्वीकृत की गई है—साधारण वध से उत्पन्न करुणा की नहीं—अर्थात् इस करुणा में काम का अन्तर्सूत्र है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा साहित्यकार यह जानता था कि करुणा और काम अर्थात् अभाव और आनन्द के संयोग से काव्य का जन्म होता है। परन्तु फिर भी वैधानिक रूप से भारतीय साहित्य-शास्त्र में केवल काव्य-प्रयोजन और काव्य-हेतु की ही चर्चा है। इन दोनों के विवेचन में से ही हमें प्रेरणा-विषयक संकेत ढूँढने होंगे।

काव्य के मुख्य प्रयोजन दो हैं : श्रोता या पाठक के लिए प्रीति और कवि के लिए कीर्ति :

'प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिषेवणम्।'

प्रीति का अर्थ है आनन्द, जीवन में रस, और श्रोता के लिए यही मुख्य है।

कवि के लिए यश और अर्थ, और इसके साथ ही शिवेतर का क्षय भी काव्य-प्रेरणा का कार्य करता है। इनमें शिवेतर का क्षय तो आज के बेचारे कवि के लिए सम्भव नहीं है। यह सुनकर कि 'गङ्गा-लहरी' की रचना से संस्कृत के पण्डितराज जगन्नाथ और हिन्दी के पद्माकर का कोढ़ ठीक हो गया था, हमारे एक मित्र ने काफ़ी मनोयोग से अपनी प्रेमिका को पाने के लिए काव्य-रचना की, परन्तु आख़िर उन्हें अदालत की कार्यवाही काव्य-रचना की अपेक्षा अधिक सार्थक जान पड़ी। अर्थ और यश से प्रेरित होकर आज भी लोग लिखते ही हैं, परन्तु ये दोनों तो बड़े उथले साधन हैं। किसी कवि को लिखने की साधारण प्रेरणा तो ये दे भी सकते हैं, परन्तु रस-सृष्टि करने की प्रेरणा इनमें कहाँ ? यह ठीक है कि बिहारी-जैसे कवियों को एक दोहे के

लिए एक मुद्रा का वचन मिला हो, परन्तु मुद्रा की प्रेरणा केवल दोहे की रचना-मात्र के लिए ही उसको उत्साहित कर सकी होगी। यही यश के लिए भी कहा जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि यश की प्रेरणा अर्थ की प्रेरणा की अपेक्षा सूक्ष्म और आन्तरिक है, परन्तु फिर भी यश की लालसा और रस-सृजन की प्रवृत्ति दोनों का तादात्म्य कर देना सर्वथा असङ्गत होगा। काव्य-प्रयोजन के उपरान्त काव्य-हेतुक से प्रेरणा की व्याख्या खोजने से भी कोई विशेष लाभ नहीं होता। काव्य के जो तीन हेतु सर्वमान्य हैं—शक्ति, निपुणता और अभ्यास—इनके व्याख्यान में भी संस्कृत के आचार्यों ने प्रेरणा का विवेचन लगभग नहीं के बराबर ही किया है। शक्ति के भिन्न-भिन्न नाम हैं। भामह और भट्टतौत आदि इसे प्रतिभा कहते हैं, अभिनव गुप्त प्रज्ञा। इन तीनों में भी प्रतिभा मुख्य है। प्रतिभा को नवनवोन्मेषशालिनी और अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षम कहा गया है। और स्पष्ट शब्दों में प्रतिभा मन का वह जन्मान्तर्गत संस्कार-विशेष है जिसके द्वारा कवि अपने वर्ण्य विषय में अलौकिक सौन्दर्य का दर्शन करके सशक्त शब्दों में उसकी अभिव्यक्ति करने में समर्थ होता है। निपुणता या व्युत्पत्ति प्राप्त करने के लिए कवि का अनुभव और ज्ञान विस्तृत होना चाहिए—उसके लिए शास्त्र, कला, नीति, काम, इतिहास, राजनीति आदि की अपेक्षा होती है। अभ्यास से तात्पर्य है रचना-अभ्यास का—अलङ्कार, छन्द, साहित्य-शास्त्र के अनुशीलन और प्रयोग का। शास्त्रीय विवेचन से परिणाम वास्तव में यह निकलता है कि हमारे आचार्यों के अनुसार कवि एक व्युत्पन्न प्रतिभावान् व्यक्ति है और उसका कर्म है जीवन के क्षेत्र में से रागात्मक तत्त्वों को सञ्चित करके उनको इस प्रकार संघटित करना कि संघटित होते ही उनमें आप-से-आप रस का सञ्चार हो जाय, जिस प्रकार भूतवादियों के मतानुसार जीव-सृष्टि में होता है। यह कवि-कर्म के बाह्य रूप की व्याख्या है, क्रिया में संलग्न कवि के मानस का विश्लेषण नहीं है।

संस्कृत-शास्त्र के तत्त्ववेत्ता ने जितना परिश्रम रस-ग्राही पाठक की मनःस्थिति का विश्लेषण करने में किया है उसका एक सूक्ष्मांश भी रस-सर्जक के मनोविश्लेषण पर खर्च नहीं किया। उसने यह तो बड़ी सफ़ाई से ढूँढ़ निकाला कि दुष्यन्त और शकुन्तला की रति का अभिनय या मानसिक चित्र देखकर सहृदय के मन में स्थित वासना-रूप रति उद्‌बुद्ध होकर रस में परिणत हो जाती है, परन्तु इसके आगे एक-दूसरे महत्त्वपूर्ण तथ्य का विश्लेषण उसने विशेष रूप से नहीं किया कि दुष्यन्त और शकुन्तला की रति का इतना सशक्त और तीव्र चित्रण, जो सहृदय की वासना को उद्‌बुद्ध करके रस रूप

में परिणत कर सके, कवि के लिए किस प्रकार सम्भव होता है। यहाँ उसको काव्य-प्रेरणा का मौलिक विवेचन करने की आवश्यकता पड़ती, और वह निश्चित ही कवि के व्यक्तित्व में उसे ढूँढ़ निकालता। उसके लिए इस परिणाम पर पहुँच जाना कठिन नहीं था कि ऐसा करने के लिए कवि को भी उसी मानसिक स्थिति में से गुजरना आवश्यक है—और वास्तव में भट्टतौत ने तो कहा भी था कि 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः'; परन्तु विधान-रूप में उसे स्वीकृत नहीं किया गया। बस, यहीं वह चूक गया और स्थूलतः प्रतिभा-निपुणता आदि में इस प्रश्न का अकाट्य समाधान पाकर अपने विवेचन को अधूरा छोड़ गया। और इसका एक बहुत बड़ा कारण था– वह यह कि भारतीय परम्परा अखण्ड रूप से काव्य के केवल निर्वैयक्तिक रूप को ही मानती रही—यदि ऐसा न होता तो भट्टनायक या अभिनव-जैसे अतलदर्शी तत्त्वज्ञों के लिए यह समस्या विशेष जटिल नहीं थी।

पश्चिम में काव्य-शास्त्र और मनोविज्ञान दोनों में साहित्य की प्रेरक प्रवृत्ति-विषयक चर्चा मिलती है। पहले साहित्य-शास्त्र के पण्डितों के सिद्धान्तों को लीजिये। वहाँ के आदि आचार्य अरस्तू ने अनुकरण की प्रवृत्ति को काव्य की मूल प्रेरणा कहा है। उनका कथन है कि जो प्रवृत्ति बालक को अपने माता-पिता आदि की भाषा, व्यवहार आदि का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करती है, वही प्रवृत्ति मानव को साहित्य-रचना की भी प्रेरणा देती है। यह बहुत ही आरम्भिक विचार था और आज इसको प्रायः कोई नहीं स्वीकार करता। साहित्य या कला अनुकरण-मात्र नहीं है, आनन्दपूर्ण सृजन है।

दूसरा सिद्धान्त मानव के जन्म-जात सौन्दर्य-प्रेम को उसकी आत्म-प्रदर्शन और अनुकरण-प्रवृत्ति को साहित्य की मूल प्रेरणा मानता है। मानव-आत्मा ज्ञान के चिर-सौन्दर्य से उद्भासित है, उसी को वह विभिन्न रूप में व्यक्त करती रहती है, जिनमें सबसे प्रत्यक्ष और सहज रूप है साहित्य एवं कला। सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में हमारी आत्मा में आनन्द का जो स्रोत आविर्भूत होता है उसी का उच्छलन कविता है। काव्य-प्रेरणा का यह रहस्यात्मक सिद्धान्त पूर्व और पश्चिम में अत्यन्त लोकप्रिय और मान्य रहा है। विदेश में हीगेल का नाम इसके साथ सम्बद्ध है।

तीसरा प्रमुख सिद्धान्त है क्रोचे का अभिव्यंजनावाद, जिसके अनुसार काव्य शुद्ध सहजानुभूति है। संसार में आकर मानव अपने से बाहर जगत् की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए अर्थात् जगत् के संसर्ग से मन में

उत्पन्न होने वाली अरूप झंकृतियों को रूप देने के लिए जितने प्रयत्न करता है काव्य या कला उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके द्वारा ही मानव-आत्मा को अनात्म की भव्यतम सहजानुभूति होती है। स्पष्ट शब्दों में इसका अर्थ यह है कि मानव-मन में जगत् के नाना पदार्थों के प्रतिक्रिया-रूप अनेक छाया-चित्र घूमते रहते हैं, अनुभूति के कुछ विशेष क्षणों में उनको अभिव्यक्त करना उसके स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य हो जाता है। अभिव्यक्ति की यही अनिवार्यता काव्य या कला की जननी है, साहित्य को सृजन की आवश्यकता मानने वाला सिद्धान्त इसी मूल सिद्धान्त की एक शाखा-मात्र है।

काव्य-शास्त्रियों के ये सिद्धान्त बहुत-कुछ सङ्गत और सूक्ष्मान्वेषी होते हुए भी आत्यन्तिक नहीं हैं। वे एकदम मूल तक नहीं पहुँच पाते। यों कहिए कि वे सभी मूल से एक संस्थान आगे से चलते हैं। धुर-मूल तक पहुँचने के लिए हमें मनोवैज्ञानिकों की शरण लेनी होगी।

सबसे प्रथम सिद्धांत फ्रॉयड का है। वह कला या साहित्य को अभुक्त काम की प्रेरणा मानता है। उसके अनुसार काव्य और स्वप्न का एक ही मूल है : हमारा अन्तर्मन, हमारी अतृप्त काम-वासना, जो स्वप्न के छाया-चित्रों का सृजन करती है, वही काव्य के भी भाव-चित्रों की जननी है। सिद्धान्त इस प्रकार है कि हमारी वासना को यदि प्रत्यक्ष जीवन में तृप्ति नहीं मिलती तो वह अन्तर्मन में जाकर पड़ जाती है और फिर ऐसी अवस्था में जब कि हमारा चेतन मन जागरूक नहीं होता, वह अपने को परितृप्त करने का प्रयत्न करती है। यह अवस्था या तो स्वप्न की अचेतनावस्था है या काव्य-सृजन की अर्धचेतनावस्था—तन्मयता की अवस्था है।

काम के दमन से स्वभाव मे जो ग्रंथियाँ पड़ जाती हैं उनमें सबसे मुख्य है मातृ-रति की ग्रंथि, जो न केवल स्वप्न और काव्य के अनेक स्थायी प्रतीकों की वरन् जीवन की अनेक प्रवृत्तियों की भी जननी है। ऑटोरैंक का कथन है कि संसार के साहित्य में जो मूल कथाएँ हैं उनका आधार-सम्बन्ध इसी ग्रंथि के विभिन्न रूपों से है। पूर्व और पश्चिम के पुराणों में तो स्थान-स्थान पर इसकी स्पष्ट स्वीकृति है ही—जैसे, ब्रह्मा और उसकी कन्या की कहानी में। प्रसिद्ध कलाकार लियोनार्दो द विञ्ची का मनोविश्लेषण करने में फ्रॉयड ने उसके शैशव की ऐसी ही एक फैण्टेसी को अधिक महत्त्व दिया है। विञ्ची ने अपने बचपन की एक विचित्र काल्पनिक धारणा का उल्लेख किया है। उसके मन में कुछ ऐसी धारणा बँध गई थी कि एक बार जब वह पालने मे लेटा हुआ

था कि एक गृद्ध आकर उसके पास बैठ गया और अपनी पूँछ को बार-बार उसके मुँह में डालने-निकालने लगा। इस कल्पना के आधार पर—अपने प्रतीक-सिद्धान्त के द्वारा फ्रॉयड ने निष्कर्ष निकाला कि उसकी वासना समकामिकता में अभिव्यक्त हुई थी और उसका प्रेम प्रेरक नहीं था प्रेरित था। इस प्रवृत्ति का मूल कारण यह था कि पिता के अभाव में उसकी मातृ-रति अत्यन्त जागृत हो गई थी जो उसे किसी भी स्त्री की ओर आकर्षित न होने देती थी। 'मोनालीसा' के चित्र में वह इसी मातृ-रति की अभिव्यक्ति देखता है।

फ्रॉयड का सिद्धान्त उसके जीवन-दर्शन से सम्बन्ध रखता है—वह तो काम को जीवन की ही मूल प्रेरणा मानता है। काम का अस्वस्थ दमन जीवन की विनाशात्मक क्रियाओं में और उसका स्वस्थ संस्कार जीवन की रचनात्मक संस्थाओं में अभिव्यक्त हो रहा है। मानव के सौंदर्य-प्रेम का उसकी काम-वृत्ति से, और हमारी सौंदर्य-भावना का हमारी प्रीति से, सहज सम्बन्ध है।

स्वस्थ रूप में, काम का उपभोग न करके जब उसको चिन्तन में परिवर्तित कर दिया जाता है तो साहित्य की सृष्टि होती है; और अस्वस्थ रूप में, जैसा मैंने अभी कहा, काम अभुक्त रहकर साहित्य के मूलवर्ती भाव-चित्रों की सृष्टि करता है। साहित्य-शास्त्र का दूसरा सौंदर्य-प्रेम को काव्य की मूल-प्रेरणा स्वीकार करने वाला सिद्धान्त बहुत-कुछ इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत आ जाता है।

फ्रॉयड का समसामयिक और शिष्य ऑडलर, जो मानव की चिरन्तन हीनता की भावना को ही जीवन की मूल प्रेरणा मानता है, साहित्य के मूल कीटाणु क्षति-पूर्ति की कामना में खोजता है। उसके अनुसार समस्त साहित्य हमारे जीवनगत अभावों की पूर्ति है : जो हमें जीवन में अप्राप्त है उसी को हम कल्पना में खोजते हैं। जीवन की क्षणिकता जीवन के अशिव और उसकी कुरूपताओं से हार मानकर ही तो मात्र-कवि ने सत्य, शिव और सुन्दर की कल्पना की थी। वास्तव में हमारा आदर्श हमारी हीनता का ही तो प्रतिक्रिया रूप है। जीवन में त्रिविध दुःख की अनिवार्यता ही ब्रह्मानन्द कल्पना की जननी है। सामयिक जीवन में गो-ब्राह्मण का हनन करने वाले मुसलमानों के विरुद्ध विवश होकर ही तुलसी ने गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक दुष्ट-दलक राम की कल्पना की थी। प्रत्यक्ष जीवन में सौंदर्य-उपभोग से वंचित रहकर ही तो छायावादी कवि ने अतीन्द्रिय सौंदर्य के चित्र आँके। पलायन का चिर-परिचित सिद्धांत इसी का एक प्रस्फुटन है।

उपर्युक्त दोनों सिद्धांतों को आंशिक सत्य मानते हुए एक तीसरे मनोविज्ञानी युङ्ग ने जीवनेच्छा को ही जीवन की मूल प्रेरणा माना है। उसके अनुसार मानव के सम्पूर्ण प्रयत्न अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए ही होते हैं। पुत्र, वित्त और लोक की तृष्णाएँ जीवनेच्छा की ही शाखाएँ हैं। साहित्य भी इसी उद्देश्य-पूर्ति के निमित्त किया हुआ एक प्रयत्न है। जीवन अथवा अपने अस्तित्व—जीवन की गति—को अक्षुण्ण रखने के लिए यह ज़रूरी है कि हम अपने को अभिव्यक्त करते रहें। वैसे तो हमारी सभी क्रियाएँ हमारी प्राण-चेतना की अभिव्यक्तियाँ हैं, परन्तु साहित्य उसकी एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है, अन्य क्रियाओं की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और आन्तरिक। इस प्रकार साहित्य-शास्त्र का अभिव्यंजनावादी सिद्धांत युङ्ग के सिद्धांत में ही अंतर्भूत हो जाता है।"

इतना कहकर आचार्य मौन हो गए।

"पौरस्त्य और पाश्चात्य काव्य-सिद्धांतों का विवेचन सुनकर मैं धन्य हो गई महाराज !" सुन्दरी ने अपनी सहज कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा।

"परन्तु तुम्हारी आँखों के प्रश्नवाचक संकेत तो अब भी कह रहे हैं कि जिज्ञासा अभी अशेष नहीं हुई और तुम अभी मेरा अपना मन्तव्य सुनना चाहती हो।"

"गुरुदेव ने मेरा आशय ठीक ही समझा है", सुन्दरी ने उत्तर दिया।

"अच्छा, मेरा अपना मन्तव्य सुनो। यह तो मैं तुमसे पहले ही कह दूँ कि मेरा मन्तव्य कोई सर्वथा स्वतन्त्र मन्तव्य नहीं है—उपर्युक्त सिद्धांतों से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं है और न हो ही सकता है। मैं जीवन को अहं का जगत् से या आत्म का अनात्म से संघर्ष मानता हूँ। इस संघर्ष की सफलता जीवन का सुख है और विफलता दुःख। साहित्य इसी संघर्ष के मानस-रूप की अभिव्यक्ति है। मानस-रूप की अभिव्यक्ति होने के कारण उसमें दुःख का अभाव होता है, क्योंकि संघर्ष की घोरतम विफलता भी मानस-रूप धारण करते-करते अपना दंशन खो देती है। मैंने भी कविता लिखी है—मैं जब स्वयं अन्तर्मुख होकर अपने से पूछता हूँ कि मैं क्यों लिखता हूँ, तो इसका उत्तर यही पाता हूँ कि अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करना मेरे जीवन के लिए अनिवार्य है; और मेरा यह व्यक्तित्व मेरे राग-द्वेषों का, जिनमें से अधिकांश काम-चेतना के प्रोद्भास हैं, संश्लिष्ट समूह है। मेरे इन राग-द्वेषों में भी उन्हीं को अभिव्यक्त करने की उत्कट आवश्यकता होती है जिनका सम्बन्ध अभाव से

है। क्योंकि अभाव में पुकारने की प्रेरणा होती है, पूर्ति में शान्त रहने की। इसका तात्पर्य यह है कि मैं कविता या कला के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा मानता हूँ; और चूँकि आत्म के निर्माण में काम-वृत्ति का और उसकी अतृप्तियों का योग है, इसलिए इस प्रेरणा में उनका विशेष महत्त्व मानना भी अनिवार्य समझता हूँ।"

"तो इसका अर्थ यह हुआ गुरुदेव, कि प्रत्येक व्यक्ति साहित्य की रचना करता है ?"

'हाँ' भी और 'नहीं' भी। 'हाँ' इसलिए कि अपने जीवन के विशिष्ट क्षणों मे प्रत्येक व्यक्ति अवश्य साहित्य की सृष्टि करता है, चाहे वह कोई स्थिर आकार धारण करके हमारे सामने न आय; और 'नहीं' इसलिए कि रूढ़ अर्थ मे जिसे साहित्य कहते है वह साधारण व्यक्तित्व की साधारण अभिव्यक्ति नहीं है, विशेष व्यक्तित्व की विशिष्ट अभिव्यक्ति ही है। विशिष्ट व्यक्तित्व का अर्थ उस व्यक्ति से है जिसके राग-द्वेष असाधारण रूप से तीव्र हों—इतने तीव्र हों कि उसके आत्म और अनात्म के बीच होने वाला संघर्ष असाधारणतः प्रखर हो। ऐसा ही व्यक्ति प्रतिभावान् कहलाता है—जिस व्यक्ति के अहं और वातावरण में या प्रवृत्ति और कर्तव्य में अथवा फ्रॉयड की शब्दावली में अन्तर्चेतन और निरीक्षक चेतन के बीच जितना ही उत्कट संघर्ष होगा उसकी प्रतिभा भी उतनी ही प्रखर होगी और उतनी ही प्रखर उसकी सृजन की प्रेरणा भी।

इस प्रकार संक्षेप में मेरे निष्कर्ष ये है :

(१) काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की ही प्रेरणा है।

(२) यह प्रेरणा व्यक्ति के अंतरंग—अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से ही उद्भूत होती है। कहीं बाहर से जान-बूझकर प्राप्त नहीं की जा सकती।

(३) हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उनमें काम-वृत्ति का प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काममय है, और चूँकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, अतः उसकी प्रेरणा में काम-वृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध ही है।"

३

साहित्य और समीक्षा

साहित्य का जीवन से दुहरा सम्बन्ध है : एक क्रिया रूप में, दूसरा प्रतिक्रिया रूप में। क्रिया रूप में वह जीवन की अभिव्यक्ति है, सृष्टि है; प्रतिक्रिया रूप में उसका निर्माता और पोषक है। जिस प्रकार एक सुपुत्र अपने पिता से जन्म और पोषण पाकर उसकी सेवा और रक्षा करता है, उसी प्रकार सत्साहित्य भी जीवन से प्राण और रक्त-मांस ग्रहण करके फिर उसको रस प्रदान करता है। जीवन की मूल भावना है आत्म-रक्षण, जिसे मनोवैज्ञानिकों ने जीवनेच्छा कहा है। आत्म-रक्षण के उपायों में सबसे प्रमुख उपाय आत्माभिव्यक्ति ही है। अतः क्रिया रूप में साहित्य आत्म-रक्षण अथवा जीवन का एक सार्थक प्रयत्न है। यही अभिव्यक्ति जब ज्ञान-राशि का सञ्चित कोष बन जाती है तब प्रतिक्रिया रूप में मानव-जीवन का पोषण और निर्माण करती है।

उपयोगिता का प्रश्न

जैसा मैंने अभी कहा, मनुष्य की समस्त क्रियाएँ आत्म-रक्षण के निमित्त होती हैं, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, सही या ग़लत, उनका यही उद्देश्य होता है—और वास्तव मे उनकी सार्थकता भी इसी में है। अतएव हमारे प्रयत्नों का मूल्य आँकने की कसौटी यही है कि वे आत्म-रक्षण में कहाँ तक सार्थक होते हैं। यहाँ आत्म का अर्थ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। आत्म-रक्षण का तात्पर्य उस स्वार्थ-बुद्धि से नहीं है जो अपने में ही संकुचित रहती है। सचमुच आत्म-रक्षण की परिधि में समाज, देश, विश्व सभी कुछ आ जाता है। अपनी रक्षा के लिए व्यक्ति को अपने वातावरण और परिस्थिति से सामञ्जस्य स्थापित करना अनिवार्य है। व्यापक रूप में जो-कुछ धर्म की परिधि में आता है वही सब आत्म-रक्षण की परिधि में भी आ जाता है, क्योंकि धर्म उन सभी प्रयत्नों की समष्टि है जो जीवन को धारण किये रहने के निमित्त होते हैं—ध्रियते यः सः धर्मः। अतएव हमें प्रत्येक क्रिया या वस्तु का मूल्य परखने के लिए एक बात देखनी चाहिए : वह कहाँ तक धर्मानुकूल, अर्थात् कहाँ तक जीवन के जीने में उपयोगी है ?

जहाँ तक इस कसौटी का प्रश्न है, हमारी धारणा है कि इस विषय में

आस्तिक-नास्तिक, विश्वासी-वैज्ञानिक, प्रगतिवादी और प्रतिक्रियावादी किसी को भी मतभेद न होगा। परन्तु उपयोगिता की परीक्षा सब एक ढङ्ग से न कर सकेंगे। उपयोगिता का एक तो स्थूल और प्रत्यक्ष रूप है जिसको पकड़ लेना सहज-सुलभ है। प्रत्येक युग का स्थूलद्रष्टा सुधारक सदैव इसी को लेकर लम्बे-चौड़े व्याख्यान देता रहा है—द्विवेदी-युग में साहित्य का यही रूप ग्रहण किया गया था। उस समय लोगों के पास कुछ मोटे-मोटे नैतिक सिद्धान्त थे जिनके अनुसार साहित्य को परखकर वे उस पर सत् और असत् का लेबिल लगा देते थे। यह मूल्यांकन किस प्रकार थोड़ा लाभ और अधिक हानि करता है इसका ज्वलन्त प्रमाण है उस समय का साहित्य, जिसका महत्त्व आज प्रायः ऐतिहासिक ही रह गया है। इसके विपरीत उपयोगिता का एक सच्चा और सूक्ष्म रूप भी है जिसको देखने के लिए मोटी नज़र काम नहीं देती। बाहर से देखने पर जो बात अत्यन्त जीवनप्रद मालूम पड़ती है वह अपने आत्यन्तिक रूप में जीवन का गतिरोध करती है, ऐसा हम प्रायः देखते हैं। उदाहरण के लिए अपने पिछले सुधार-युग—साहित्य में जो द्विवेदी-युग है समाज में वही सुधार-युग—का जीवन लिया जा सकता है। नीति की चर्चा करते-करते किस प्रकार उस जीवन में दम्भ, पाखण्ड और असहानुभूति का प्रवेश हो गया यह कोई रहस्य नहीं है। अतएव उपयोगिता को हमें गहराई में जाकर देखना चाहिए और परखना चाहिए उसका स्थायी मूल्य, न कि तात्कालिक मात्र।

वस्तु का स्थायी महत्त्व बहुत-कुछ उसकी आनन्ददायिनी शक्ति पर निर्भर रहता है। जो आनन्ददायक है वह उपयोगी है ही, इसी बात को भूलकर आलोचक प्रायः सुन्दर-से-सुन्दर साहित्य के प्रति अन्याय कर बैठता है। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य की उपेक्षा इसका एक प्रमाण है। 'कला कला के लिए है' और 'कला जीवन के लिए है', इन दोनों सिद्धांतों में जो द्वंद्व-युद्ध चलता है वह बहुत-कुछ इसी भूल के कारण। 'कला कला के लिए है' सिद्धांत का प्रतिपादक भी वास्तव में शुद्ध आनन्द को ही कला का उद्देश्य मानता है, उधर कला को जीवन की परिचारिका मानने वाला सम्प्रदाय भी उसके द्वारा पहले आनन्द ही खोजता है। इसके प्रमाण में स्वयं ऑस्कर वाइल्ड और रस्किन के अनेक उद्धरण पेश किये जा सकते हैं। आनन्द की उपेक्षा करके कला जीवित नहीं रह सकती। स्थूल-से-स्थूल रूप में भी उसकी सार्थकता 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' में ही है। अतएव काव्य की कसौटी है उसकी शुद्ध आनन्ददायिनी शक्ति, जिसे अपने शास्त्रकारों ने रस कहा है। रस का

अर्थ व्यापक रूप में आनन्द से चलकर जीवन-पोषक तत्त्व तक है : चरक में रस शब्द का यही तात्पर्य है। जीवन अथवा आनन्द मनुष्य क्या, प्राणि-मात्र का चिरन्तन लक्ष्य है। समय के अनुसार उसका बाह्य सदैव बदलता रहा है—जीने की विधि बदलती है, परन्तु जीना (आनन्द-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना) तो निश्चय ही एक शाश्वत सत्य है—इसको घोर-से-घोर अशाश्वत-वादी अस्वीकृत नहीं कर सकता।

यह मान लेने पर कि कला-कृतियों का सापेक्षिक महत्त्व उनकी आनन्द-दायिनी शक्ति पर आश्रित है, दो प्रश्न उठते हैं : आनन्द का परिमाण कौन निश्चय करे ? और कैसे करे ? 'कौन' का उत्तर है : अधिकारी, भोक्ता या अनुभवकर्ता, जिसकी मैं निश्चित विशेषताएँ मानता हूँ संवेदनशीलता और संस्कृत-शिक्षित रुचि। काव्य का जीवन की अन्य अभिव्यक्तियों की भाँति एक विशेष माध्यम है और एक विशेष शैली। अर्थात् वह जीवना-भिव्यक्ति की एक विशेष कला है जिसका अपना पृथक् रूप है, अपने पृथक् लक्षण-नियम हैं, और इनसे घनिष्ठ परिचय रखने वाला व्यक्ति ही उसका निर्णय करने का अधिकारी है। जीवन की विभिन्न विद्याओं और कलाओं की भाँति ही वह अधिकारियों की, विशेषज्ञों की वस्तु है, जन-साधारण की नहीं। दूसरा प्रश्न है : कैसे करे ? तो विशेषज्ञ के लिए कला-कृतियों का सापेक्षिक महत्त्व आँकना, सूक्ष्म शब्दों में आनन्द का परिमाण आँकना कठिन नहीं है। उसके लिए सबसे निर्भ्रान्त मार्ग है पहले यह देखना कि कृति का कर्ता कहाँ तक उसमें अपने व्यक्तित्व को अनूदित अर्थात् लय कर सका है और फिर यह भी देखना कि यह व्यक्तित्व अपेक्षाकृत कितना प्राणवान् है। अधिक प्राणवान् व्यक्तित्व का पूर्ण अनुवाद या लय कम प्राणवान् व्यक्तित्व के पूर्ण लय की अपेक्षा गुरुतर कार्य है, स्वभावतः उसके द्वारा प्राप्त आनन्द अधिक सशक्त और परिपक्व होगा और कृति का महत्त्व भी गुरुतर होगा। कला का मूल्य कलाकार के आत्माभिव्यंजन पर निर्भर है : उसका आत्मा जितना प्राणवान् और जितना निष्कपट, तीव्र एवं सम्पूर्ण होगा, कला उतनी ही रसवती और जीवनप्रद होगी। हाँ, रस की अनुभूति और अभिव्यक्ति के विषय में थोड़ा विवाद उठ सकता है। अनुभूति के लिए तो कोई निश्चित सिद्धान्त बना देना कठिन है, परन्तु रसाभिव्यक्ति की शक्ति निश्चय ही कलाकार के आत्माभिव्यंजन पर निर्भर है। वह आत्माभिव्यंजन जितना निष्कपट, तीव्र एवं सम्पूर्ण होगा कला उतनी ही रसवती होगी—वह एक प्राणवान् जीवन का जितना सफल अनुवाद होगी, उतनी ही जीवनप्रद भी होगी।

अतः साहित्य की आत्मा है रस, और इसी रस की परीक्षा करना आलोचना का उद्देश्य है।

परीक्षण-विधि

अब हमें रस-परीक्षण की विधि का अध्ययन करते हुए उसके कुछ सिद्धान्तों को स्थिर करना है—ये ही वास्तव में समीक्षा के मूल सिद्धान्त होंगे। रस की व्याख्या मैं ऊपर कर चुका हूँ : इसका अर्थ है आनन्द। कोई रचना रसवती तभी हो सकती है जब रचयिता उसमें अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः अनूदित कर दे। अपने व्यक्तित्व का अनुवाद ही रचयिता के लिए सबसे बड़ा आनन्द है, इसी के अनुसार उसकी रचना में भी आनन्द देने की शक्ति होगी—और आनन्द केवल मनोरंजन नहीं है, उसका अभिप्राय है अन्तर्वृत्तियों का सामञ्जस्य।

धर्म की व्यवस्था करते हुए आचार्य ने उसके चार लक्षण बताये हैं : आत्मनः प्रिय, सदाचार, स्मृति और वेद (के अनुकूल)। ये चार बातें हमें आलोचना के मूल सिद्धान्त स्थिर करने में सहायक होंगी। सबसे पहली बात जो रस-परीक्षण के लिए आवश्यक है वह है आत्मनः प्रिय—कोई कृति आलोचक को स्वयं कैसी लगती है, उसका अध्ययन करने पर उसकी अपनी मानसिक प्रतिक्रिया क्या होती है यह देखना। आलोचना कितनी ही वैज्ञानिक और राग-द्वेष-हीन होने का दावा क्यों न करे, आलोचक की व्यक्तिगत धारणा और प्रतिक्रिया उसमें प्रमुख कार्य करेगी ही। तभी वह वास्तव में साहित्य का अङ्ग बन सकती है। परन्तु 'आत्मनः प्रिय' का संकुचित अर्थ सत्य आलोचना के लिए उसी प्रकार घातक होगा जिस प्रकार धर्म के लिए। आचार्य जहाँ धर्म का लक्षण 'अपनी आत्मा को प्रिय होना' करता है वहाँ आत्मा से उसका तात्पर्य शुद्ध अविकृत अंतःकरण से है। इसी प्रकार आलोचक का आत्म भी शिक्षित और संस्कृत होगा यह पहले से ही मान लिया गया है। साधारण पाठक की अपेक्षा उसकी रसानुभूति तीव्र और अभिरुचि परिष्कृत होगी, जो उसे बिना कठिनाई के सुन्दर और असुन्दर की पहचान करा सकेगी। साथ ही वह केवल 'क्या सुन्दर है ?' यही देखकर सन्तुष्ट न हो जायगा, वरन् यह भी जानने का प्रयत्न करेगा कि ऐसा क्यों है। 'क्यों' का विवेचन उसे सीधा मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र की ओर ले जायगा। वह कलाकार का मनोविश्लेषण करता हुआ अपने मन की स्थिति का भी अध्ययन करेगा और दोनों के बीच तारतम्य ढूँढ़कर किसी कला-कृति-

विशेष के प्रिय अथवा अप्रिय लगने का कारण उपस्थित करेगा। उधर सौन्दर्य-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र, जो मनोविज्ञान का ही एक अंग है, कृति के रूप का विवेचन करने में सहायता देगा, और वह अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति की प्रसादिनी अथवा अप्रसादिनी शक्ति का विश्लेषण भी कर सकेगा।

परन्तु अभी उसका कार्य अपूर्ण ही है। 'आत्मनः प्रिय' के साथ धर्म की भाँति साहित्य के लिए भी, सदाचार, स्मृति और वेद के अनुकूल होना अनिवार्य है। सदाचार का अर्थ है : सतां आचारः—अर्थात सज्जनों का आचार; और सज्जनों के आचार से तात्पर्य है सामाजिक हितों के अनुकूल व्यवहार। अतएव सत्साहित्य में केवल व्यष्टि के ही प्रसन्न करने का गुण नहीं, समष्टि के भी प्रसादन का गुण होता है। आगे है स्मृति—अर्थात् विधान—राष्ट्र-नियम, और उसके आगे है वेद—शाश्वत ज्ञान—चिरन्तन सत्य। इनमें दूसरा और तीसरा लक्षण बहुत सीमा तक काल-सापेक्ष हैं। समाज और राष्ट्र—आज हम इन दोनों का समाहार समाज शब्द में ही कर सकते हैं—का विधान समय के अनुसार बदलता रहता है, अतएव हमें इनके अनुसार साहित्य का मूल्याङ्कन करते समय सावधानी से काम करना चाहिए। हमें समाज के बाह्य आवरण को चीरकर उसके मूल मानवीय अन्तर्तत्त्वों को पकड़ना पड़ेगा। ऐसा करने का एक सीधा उपाय है। किसी प्राचीन कला-कृति को लेकर पहले तो आलोचक यह स्पष्ट करे कि जिस समय आलोच्य वस्तु की रचना हुई थी उस समय समाज की क्या अवस्था थी—किन सामाजिक प्रेरणाओं ने उसके निर्माण में योग दिया था, और फिर उन कारणों की छान-बीन करे जिनके द्वारा एक देश-काल की कृति दूसरे सर्वथा भिन्न देश-काल के व्यक्तियों को प्रिय लगती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहीं वह मानवीय अन्तर्तत्त्वों को पकड़ लेगा और साहित्य को केवल सामयिकता की कसौटी पर कसने की भूल न करेगा!

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया जा सकता है—साहित्य वैयक्तिक चेतना है या सामूहिक : सामाजिक? व्यक्ति और समाज, व्यष्टि और समष्टि दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हैं। व्यक्ति से ही समाज बनता है : दूसरी ओर व्यक्ति समाज की एक इकाई भी है। फिर भी पूर्ण पर विचार करते हुए यदि दोनों का सापेक्षिक महत्त्व आँकें तो व्यक्ति की सत्ता समाज की सत्ता से अधिक बलवती ठहरती है। वैसे तो व्यक्ति समाज का एक अंग है, और समाज पर निर्भर रहता है पर समय आने पर वह उसके उपर उठ सकता

हैं, उसको उपेक्षित ही नहीं ओवर हॉल भी कर सकता है। संसार का इतिहास लक्ष-लक्ष कर उठाकर इस सत्य का समर्थन कर रहा है। समाज का अधिकांश जन-साधारण—मैं वर्ग की ओर संकेत नहीं कर रहा—से ही बना हुआ है और महान् साहित्य की सृष्टि साधारण प्रतिभा की शक्ति से बाहर है—महान् साहित्य असाधारण प्रतिभा और उद्दीप्त क्षणों की अपेक्षा करता है—शेक्सपियर की 'फ़ाइनफ्रेञ्जी' वाली उक्ति कोरी कविता नहीं है—वह एक स्वानुभूत सत्य है। व्यक्ति की चेतना पर समाज, देश का प्रभाव पड़ता है और ख़ूब पड़ता है, परन्तु यह कहना कि रवीन्द्रनाथ के सम्पूर्ण साहित्य का श्रेय केवल उनके सामन्तीय वातावरण और पूँजीवाद को ही है अथवा कबीर की कविता के लिए केवल उनका हीन जाति में जन्म होना ही उत्तरदायी है, छिछली वर्ग-मनोवृत्ति का परिचय देना है।

आलोचना के प्रचलित सम्प्रदाय

आज आलोचना के कई सम्प्रदायों के नाम सुनाई देते हैं। इनमें तीन मुख्य हैं :

१. प्रभाववादी, २. शास्त्रीय, और ३. वैज्ञानिक।

इनमें सबसे अधिक बदनाम है प्रभाववादी सम्प्रदाय। आज एक आलोचक दूसरे को हीन प्रमाणित करने के लिए उसे फ़ौरन इम्प्रेशनिस्ट कह देता है। परन्तु वास्तव में आलोचना की पहली सीढ़ी है प्रभाव ग्रहण करना। उसकी बहुत-कुछ शक्ति इन प्राथमिक प्रभाव-प्रतिबिम्बों पर निर्भर रहती है। फिर भी उसका कार्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता। 'कैसा है ?' के साथ ही यदि वह 'क्यों है ?' की व्याख्या नहीं करती तो आलोचक की अपनी प्रतिक्रियाओं का महत्त्व रहने पर भी, उसकी आलोचना हल्की और स्केची होगी, उसमें आश्वस्त करने की शक्ति नहीं होगी, जिसका परिणाम यह होगा कि पाठक अपनी अभिरुचि के अनुसार तुरन्त ही उनका ग्रहण या त्याग कर देगा। 'क्यों है ?' की व्याख्या जैसा मैं पीछे कह आया हूँ स्वभावतः मनोविज्ञान, सौन्दर्य-शास्त्र, और साहित्य-शास्त्र की अपेक्षा करेगी और आलोचक को शास्त्रीय शैली का भी आदर करना ही पड़ेगा ! वास्तव में व्याख्या करने के लिए, आश्वस्त करने के लिए, आलोचना की शास्त्रीय पद्धति का अवलम्बन अनिवार्य है—आलोचना में गांभीर्य और स्थायित्व इसी से आता है। इसके आगे वैज्ञानिक पद्धति आती है जो वस्तु और परिस्थिति के तारतम्य, वस्तु

के अन्तर्तत्त्वों के वर्गीकरण, और उसके स्थान-नियोजन पर विशेष बल देती है। पहली दो पद्धतियों में—अर्थात् कैसा है ? और क्यों है ? के विवेचन में आलोच्य वस्तुओं का बहुत-कुछ मनोगत रूप व्यक्त किया जाता है, वैज्ञानिक पद्धति वस्तु के वस्तुगत रूप को स्पष्ट करने का दावा करती है। साहित्य या कला का एकान्त वस्तुगत रूप क्या होता है और वैज्ञानिक पद्धति उसको कहाँ तक ग्रहण और स्पष्ट कर सकती है, यह मैं अभी नहीं समझ सका; परन्तु इस पद्धति का अपना महत्त्व असंदिग्ध है। इसकी सबसे बड़ी उपादेयता यह है कि आलोचक की अपनी धारणाओं में राग-द्वेष की मात्रा अत्यन्त संयत हो जाती है, एवं उसकी अभिरुचि अधिक-से-अधिक बुद्धि-सङ्गत हो जाती है। दूसरे, 'क्यों' की व्याख्या करने के लिए भी वस्तु और परिस्थिति के तारतम्य का ज्ञान अनिवार्य है; तीसरे, उसका स्थायी महत्त्व आँकने के लिए उसकी परम्परा स्थिर करते हुए इतिहास में स्थान-नियोजन करना भी सर्वथा अभीष्ट है। इस प्रकार आलोचना की इन विभिन्न प्रणालियों में अंतर्सापेक्ष्य है, विरोध नहीं। हाँ, अपने में वे अवश्य अपूर्ण हैं। सुलझा हुआ आलोचक मतवादों के फेर में न पड़ता हुआ उनका सार्थक उपयोग करता है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि आलोचक के कर्त्तव्य कर्म दो हैं : पहला है लेखक और पाठक के बीच द्विभाषण। इसकी परिधि में व्याख्या, निर्णय और स्थान-नियोजन सभी कुछ आ जाता है।

दूसरा है आलोच्य वस्तु के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करना, जिसके बल पर ही आलोचना साहित्य-पद को प्राप्त हो सकती है।

संक्षेप में मेरी साहित्य और समीक्षा-विषयक मान्यताएँ निम्न हैं :

१. साहित्य आत्माभिव्यक्ति है। आत्माभिव्यक्ति ही आनन्द है, रस है—पहले स्वयं लेखक के लिए, फिर प्रेषणीयता के नियमानुसार पाठक के लिए। और रस जीवन का सबसे बड़ा पोषक तत्त्व है।

२. आत्माभिव्यक्ति आत्म रक्षण का, जो जीवन की प्रेरक शक्ति है, प्रमुख साधन है।

३. जीवन की अन्य अभिव्यक्तियों की भाँति साहित्य भी एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति है—उसका एक विशेष स्वरूप और विशेष शैली अथवा कला है—जिसको ग्रहण करने के लिए एक विशेष संस्कार और एक विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है। अतएव उसके अधिकारी पारखी उस

कला के विशेषज्ञ ही हो सकते हैं जन-साधारण नहीं, वे तो अधिक-से-अधिक उसका रस ले सकते हैं।

४. साहित्य का मूल्य साहित्यकार के आत्म की महत्ता और अभिव्यक्ति की सम्पूर्णता एवं सचाई के अनुपात से ही आँकना चाहिए। अन्य मान एकांगी हैं, अतः प्रायः धोखा दे जाते हैं।

५. साहित्य वैयक्तिक चेतना है, सामूहिक नहीं। जब मैं ऐसा कहता हूँ तो व्यक्ति पर समूह के ऋण का तिरस्कार नहीं करता। परन्तु मैं यह निश्चित रूप से मानता हूँ कि समूह (समाज) अधिक-से-अधिक व्यक्ति का निर्माता हो सकता है, स्रष्टा नहीं। समाज का प्रभाव व्यक्ति पर उसकी अपनी शक्ति के विलोम अनुपात से पड़ता है। इसलिए इतिहास का केवल आर्थिक या भौतिक व्याख्यान करना मानव-शक्तियों का उपहास करना है। आज हमारे प्रगतिवादी आलोचक यही करके प्राचीन और नवीन साहित्य के साथ अन्याय कर रहे हैं।

६. समीक्षा में भी मैं समीक्षक की आत्माभिव्यक्ति को—जिसमें उसकी भावुकता अर्थात् रसज्ञता, बुद्धि, मानसिक संतुलन आदि सभी कुछ आ जाता है—प्रमुख मानता हूँ। मानव-जगत् में, विशेषकर साहित्य-जगत् में वस्तु का एकान्त वस्तुगत रूप भी ग्रहण किया जा सकता है, यह मैं नहीं मानता।

७. स्वभावतः साहित्य के अन्य अङ्गों की भाँति समालोचना में भी साधारणीकरण को मैं अनिवार्य मानता हूँ।

अर्थात् आलोचक एक विशेष रस-ग्राही पाठक है और आलोचना उस गृहीत रस को सर्व-सुलभ करने का प्रयत्न। इस प्रयत्न में आलोच्य कृति के सहारे आलोचक जितनी सचाई और सफ़ाई के साथ अपने को व्यक्त कर सकेगा उतना ही उसकी आलोचना का मूल्य होगा।

४

साहित्य में कल्पना का उपयोग

कल्पना शब्द क्लृप् धातु से बना है, जिसका अर्थ है (करने की) सामर्थ्य रखना : सृजन करना—'यथापूर्वमकल्पयत्'।

विदेश के साहित्य-शास्त्र में कल्पना का बड़ा गौरव है। काव्य के चार प्रमुख तत्त्वों में सभी ने उसका स्थान सर्व-प्रमुख माना है। संस्कृत के रस-शास्त्र में कल्पना का पृथक् रूप से विवेचन नहीं मिलता, यद्यपि उसकी सत्ता सर्वत्र स्वीकृत की गई है।

भारतीय दर्शन के अनुसार अंतःकरण के चार अङ्ग हैं—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार। यद्यपि इन चारों की परिधियाँ मिली-जुली हैं, फिर भी उनके धर्मों का स्पष्ट पार्थक्य भी निर्दिष्ट है। मन को न्याय में संकल्प-विकल्पात्मक कहा है—'संकल्पविकल्पात्मकं मनः'। सब प्रकार के संकल्प-विकल्पों का माध्यम हमारा मन ही है। संकल्प और विकल्प, ये शब्द कल्पना के सगोत्रीय अवश्य हैं यद्यपि उनका सीधा सम्बन्ध उससे नहीं है। संकल्प का तात्पर्य अनुभूत वस्तु से सम्बद्ध पहली मानसिक धारणाओं से है—विकल्प उनकी अनुयोगी अथवा प्रतियोगी धारणाएँ हैं। प्रत्यक्ष इन्द्रिय-ज्ञान (परिज्ञान) से जो हमारे अन्तःकरण पर प्रभाव प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, उनका मन ही समीकरण करके उन्हें बुद्धि के समक्ष उपस्थित करता है। "यही मन वकील के सदृश कोई बात ऐसी है (संकल्प) अथवा इसके विरुद्ध वैसी है (विकल्प) इत्यादि कल्पनाओं को बुद्धि के सामने निर्णय देने के लिए पेश करता है। इसीलिए इसे 'संकल्प-विकल्पात्मक' अर्थात् बिना निश्चय किये कल्पना करने वाली इन्द्रिय कहा गया है।"—ऐसा 'गीता-रहस्य' में आता है; और यही पश्चिमी दार्शनिकों के मत से कल्पना का भी सबसे साधारण और पहला धर्म है।

इस प्रकार मन ही कल्पना का आधार सिद्ध होता है। इसी विवेचन को कुछ और स्पष्ट करते हुए रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास लिखते हैं : "दार्शनिकों ने सब प्रकार के ज्ञान की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं : परिज्ञान, स्मरण, कल्पना, विचार और सहज ज्ञान। सबसे पहले हमें बाह्य पदार्थों का

ज्ञान अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है। जब हम किसी मनुष्य के सामने जाते हैं, तब हमारे नेत्रों के द्वारा उसका प्रतिबिम्ब हमारे मन पर पड़ता है।...... इस प्रकार के ज्ञान को 'परिज्ञान' कहते हैं। यदि हमने उस मनुष्य को ध्यान से देखा है तो पीछे से आवश्यकता पड़ने पर 'स्मरण'-शक्ति की सहायता से उस मनुष्य के रूपादि का कुछ ध्यान कर सकते हैं।......मान लीजिये कि उक्त मनुष्य एक अङ्गरेज़ है। हमने एक संन्यासी को भी देखा है और हमें उस संन्यासी के रूप, आकार तथा उसके वस्त्रों के रंग का स्मरण है। अब हम चाहें तो अपने मन में उस अङ्गरेज़ का सूट-बूट छीनकर उसे संन्यासी का गेरुआ वस्त्र पहना सकते हैं और तब हमारी मानसिक दृष्टि के सामने एक अङ्गरेज़ संन्यासी का चित्र उपस्थित हो जाता है।......मन की एक विशेष क्रिया से स्मरण-शक्ति द्वारा सञ्चित अनुभवों को विभक्त करके और फिर उनके पृथक्-पृथक् भागों को इच्छानुसार जोड़कर हमने मन में एक ऐसे नवीन व्यक्ति की रचना कर ली जिसका अस्तित्व बाह्य जगत् में नहीं है। मन की इस क्रिया को कल्पना कहते हैं।" एक प्रकार से, अचेतन दशा में जो स्वप्नावस्था है वही चेतन दशा में कल्पनावस्था समझनी चाहिए।

यह तो रहा कल्पना का तत्त्व-दृष्टि से विवेचन। रस-दृष्टि से विवेचन करते समय हमारा रस-शास्त्र कुछ अधिक सहायता नहीं देता। यह बात नहीं कि वह कल्पना का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता। वास्तव में उसकी सत्ता के बिना तो कोई काव्य-शास्त्र एक पग आगे नहीं बढ़ सकता। अन्तर केवल इतना ही है कि विदेश में उसे काव्य का एक अनिवार्य तत्त्व माना है, और यहाँ अनिवार्य उपकरण। काव्य के अंग-प्रत्यंग में कल्पना ओत-प्रोत है—उसके बिना काव्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं—इसी कारण कदाचित् उसका पृथक् निर्देश अनावश्यक समझा गया हो। संस्कृत अलङ्कार-शास्त्र का 'स्वभावोक्ति' और 'वक्रोक्ति'-विषयक वाद-विवाद मेरे कथन की पुष्टि करेगा। चित्त को चमत्कृत करने की जिस शक्ति का उल्लेख हमारे यहाँ स्थान-स्थान पर मिलता है यह और कुछ नहीं शब्द-भेद से काव्य का वही गुण है जिसे अङ्गरेज़ आलोचक एडीसन ने कल्पना का प्रसादन कहा है। इसके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य की आत्मा ध्वनि का आधार कल्पना के सिवाय और क्या हो सकता है? व्यंजना शत-प्रतिशत कल्पना के आश्रित है। 'सूर्यास्त हो गया।"—व्यंजना का यह उदाहरण रस-शास्त्रियों में बहुत प्रसिद्ध है। इसको सुनते ही प्रत्येक श्रोता अपने अनुकूल अर्थ निकाल लेगा: ग्वाला

घर लौटने का, विद्यार्थी सन्ध्या-वन्दन करने का, अभिसारिका संकेत-स्थल की ओर प्रस्थान करने का...इत्यादि। मन की जिस शक्तिद्वारा यह अर्थ-ग्रहण सम्भव है वही वास्तव में कल्पना है। इसी प्रकार गुणीभूत व्यंग्य-काव्य में भी कल्पना का आधार निश्चित है।

कल्पना को साधारणतः प्रत्यक्ष अनुभव का विरोधी गुण समझा जाता है—और एक निर्दिष्ट सीमा तक, स्थूल रूप में यह सत्य भी है। कल्पित और सत्य—घटित के अर्थ में—में इसी दृष्टि से पार्थक्य भी किया जाता है। उदाहरण के लिए 'नाट्य-शास्त्र' कहता है कि नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक, सत्य अथवा घटित, और प्रकरण की कल्पित, काल्पनिक होनी चाहिए। कपोल-कल्पित आदि शब्दों का प्रयोग भी इसी अर्थ से सम्बन्ध रखता है। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कल्पना प्रत्यक्ष के सर्वथा अनाश्रित नहीं हो सकती। हम प्रायः उस वस्तु की कल्पना कर ही नहीं सकते जिसके समस्त स्वरूप का अथवा पृथक् अवयवों का हमने प्रत्यक्षीकरण न किया हो। इसीलिए तो कल्पना की तुलना उस पक्षी से की गई है जो सुदूर आकाश में उड़ता हुआ भी पृथ्वी पर दृष्टि बाँधे रहता है।

कल्पना के स्वरूप की थोड़ी-बहुत व्याख्या करने के उपरान्त, अब उसके काव्यगत विभिन्न प्रयोगों का विवेचन करना संगत होगा। अङ्गरेज़ी आलोचक कॉलरिज और रिचर्ड्स ने इन रूपों का बड़ा स्वच्छ विवेचन किया है।

सबसे पहले तो उसका प्रयोग मन पर पड़े हुए प्रत्यक्ष पदार्थ-चित्रों से सम्बन्ध रखता है। प्रत्यक्ष जगत् में हम जो-कुछ देखते या सुनते हैं उसके विषय में हमारे मन में अनेक भाव-तरंगें अनायास ही उठने लगती हैं—मन इनको समवेत करके चित्रों के रूप में परिणत कर देता है। यह मन की वही प्राथमिक क्रिया है जिसका विवेचन तिलक महाराज ने अपने 'गीता-रहस्य' में किया है। काव्य की दृष्टि से इसका अधिक मूल्य नहीं, यद्यपि स्थूल वस्तु-दर्शन में इसीका प्रयोग होता है। इस युग की टेकनीक में सम्भव है इसका मूल्य बढ़ जाय, परन्तु साधारणतः मन इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होता। वह उस चित्र को अपने अनुरूप गढ़ना चाहता है, और इस प्रकार उसमें अपनी रुचि के अनुसार काट-छाँट करता रहता है। इसी को विक्टर कज़िन ने "अनजाने में प्रकृति की आलोचना" कहा है। पश्चिमी साहित्य-शास्त्र में मन का यह कार्य आदर्शीकरण के नाम से प्रसिद्ध है। यह आप-ही-आप बिना किसी प्रयत्न के होता रहता है, और काव्य में तो प्रयत्न पूर्वक भी इसका बचाव नहीं हो सकता।

हाँ, भाव-प्रधान रचनाओं में इसका उपयोग मुख्य और वस्तु-प्रधान कृतियों में अपेक्षाकृत गौण होता है। आगे चलकर भावना-विशेष पर केन्द्रित होकर कल्पना का यही प्रयोग प्रतीकों का सृजन करने में समर्थ होता है।

कल्पना का दूसरा प्रयोग अलंकारों- –अप्रस्तुत विधान—में किया जाता है। साम्य और वैषम्यमूलक जितने अलंकार हैं उनका प्रधान साधन कल्पना ही है। वस्तु और भाव के उत्कर्ष को बढ़ाने के लिए कल्पना का योग अनिवार्य है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि साम्यमूलक अलंकारों में साम्य की स्थापना और विरोध, विषम, विभावना आदि वैषम्यमूलक प्रयोगों में वैषम्य की धारणा कल्पना के आश्रय से की जाती है। अतिशयोक्ति में भी यही बात है। साम्य में समान-धर्मा वस्तुओं का, वैषम्य में विपरीत-धर्मा वस्तुओं का, और अतिशयोक्ति में दूरस्थित वस्तुओं का समीकरण किया जाता है।

दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रति लट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर वक्ष पर विपुल।
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
चमकतीं दूर ताराएँ हों ज्यों कहीं पार।

अनुपात का ध्यान न होने से यही समीकरण विचित्र तमाशे खड़े कर देता है। संस्कृत-हिन्दी रीति-साहित्य में इस प्रकार के उदाहरण भरे पड़े हैं। फ़ारसी और उर्दू में भी इसी तरह तखैयुल के साथ भरपूर खिलवाड़ हुई है। पन्त की 'स्याही का बूँद' कविता पेश की जा सकती है।

गोल तारा-सा नभ से कूद !

यहाँ 'बूँद' में और 'तारे' में साम्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है—परन्तु अनुपात को सर्वथा भुलाकर !

कल्पना का तीसरा प्रयोग संकुचित अर्थ में किया जाता है। किसी सीधे-सादे व्यक्ति को यह कहते हुए सुनकर, कि मैं तो अमुक चित्र अथवा मूर्ति अथवा कविता में कोई विशेषता नहीं देखता, हम प्रायः कह उठते हैं कि तुम्हारी कल्पना निर्धन है। तो यहाँ कल्पना का तात्पर्य कलाकार की मानसिक अवस्था का अनुभव करने की क्षमता से है। शब्द-शक्ति लक्षणा का सम्बन्ध कल्पना के इसी अर्थ से है। यदि कलाकार अपनी मनोदशा को प्रेषणीय नहीं बना सकता तो कलाकार में कल्पना की कमी है; और अगर पाठक, श्रोता अथवा दर्शक उस मनोदशा को ग्रहण करने में मन्थर है तो यह उसकी

कल्पना की हीनता कही जायगी। यही कारण है कि भाषा के लाक्षणिक प्रयोगों को कल्पना-हीन पाठक सरलता से नहीं समझ सकता।

इसके अतिरिक्त कल्पना का प्रयोग होता है आविष्कार के अर्थ में। इसी दृष्टि से वैज्ञानिक आविष्कर्ताओं को उत्कट कल्पनाशील कहा जाता है। काव्य में इस प्रकार का प्रयोग अद्‌भुत दृश्यों के चित्रण में, असम्भाव्य घटनाओं के विधान में, अपार्थिव स्त्री-पुरुषों के सृजन में किया जाता है। हिन्दी का उपन्यास 'चन्द्रकान्ता-संतति' इसका अमर उदाहरण है। यहाँ कल्पना दूर की कौड़ियों को इकट्ठा तो कर देती है, परन्तु उनका सम्यक् समन्वय नहीं कर सकती। इसीलिए उनमें भराव नहीं आ सकता। और यही कारण है कि इस प्रकार की कृतियों से हमारी मनस्तुष्टि नहीं हो सकती।

कल्पना का एक मुख्य कार्य है रिक्त स्थानों को भरना अर्थात् विषमताओं को एकसार करना। जगत् में हम देखते हैं वस्तुएँ पूर्ण नहीं है, उनमें न्यूनताएँ एवं दोष हैं, अर्थात् उनमें बीच-बीच में स्थान रिक्त रह गए है। बस हमारी कल्पना आप-ही-आप उनको भरने का प्रयत्न करने लगती हैं। ऐसा करने के लिए उसको उन स्थानों के रिक्त होने का कारण खोजना पड़ता है और वह देखती है कि वास्तव में उन वस्तुओं के विभक्त अंगों में परस्पर सम्बन्ध था, जो विशेष व्यतिक्रमों से अब टूट गया है। इस प्रकार हमारी कल्पना उन लुप्त परन्तु संगत सम्बन्धों का पुनर्स्थापन करके समस्त वस्तु को एकता प्रदान कर देती है। इसीको रूप-विधान कहते हैं। काव्यगत टेक्नीक में कल्पना का इसी अर्थ में प्रयोग होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि ऐसा जान-बूझकर ही किया जाय। अनजाने में भी हमारी कल्पना प्रायः यह कार्य करती रहती है।

अब कल्पना का सबसे अंतिम एवं सशक्त प्रयोग रह जाता है, जिसका अङ्गरेज कवि-समालोचक कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ-काव्य के प्रसंग में इतने सबल शब्दों में विवेचन किया है: "इस समन्वय और जादू की शक्ति के लिए ही मैंने कल्पना शब्द का प्रयोग किया है। इसका धर्म है विरोधी या असम्बद्ध गुणों का एक-दूसरे के साथ संतुलन अथवा समन्वय करना अर्थात् एकरूपता का अनेक-रूपता के साथ, साधारण का विशेष के साथ, भाव का चित्र के साथ, व्यष्टि का समष्टि के साथ, नवीन का प्राचीन के साथ, असाधारण भावावेश का असीम संयम अथवा अनुक्रम के साथ अथवा चिर-जागृत विवेक एवं स्वस्थ आत्म-संयम का दुर्दम उत्साह तथा गम्भीर भावुकता के साथ।...इसी के बल पर कवि अनेकता में एकता ढूँढ निकालता है और विभिन्न विचारों एवं भावों को एक

विशेष विचार अथवा भाव से अन्वित कर देता है।" शेक्सपियर ने इसे ही स्वस्थ कल्पना कहा है। कल्पना का यह रूप कवि की सबसे बड़ी गौरव-कसौटी है। क्योंकि इस प्रकार के समन्वय की क्षमता उन्हीं विश्वदर्शी कलाकारों में हो सकती है जिनके हृदय विशाल हों, जो जगत् की विभिन्नताओं को पचा सकें।

खल और सन्त समाज की एक श्वास में वन्दना करने वाला तुलसीदास, विश्व की विषमताओं को एकरस होकर ग्रहण करने वाला शेक्सपियर, शैतान के विद्रोह और ईश्वर के न्याय पर एक साथ मुग्ध होने वाला मिल्टन, राम का अनन्य भक्त होते हुए भी उनके विरोधियों के प्रति सहानुभूति रखने वाला मैथिलीशरण अथवा इस कोटि का कोई अन्य कवि ही इतना ऊँचा उठ सकता है। कल्पना का यह प्रयोग समस्त काव्य में ही नहीं एक वाक्य तक में सफलता से हो सकता है। अङ्गरेज़ी के प्रसिद्ध मनोविज्ञानी आलोचक रिचर्ड्स ने इसी दृष्टि से ट्रैजेडी को काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण स्वरूप माना है क्योंकि उसमें भय (जो हमें पात्र से दूर हटाता है) और करुणा (जो पात्र के प्रति आकृष्ट करती है) का पूर्ण सामञ्जस्य होता है।

अङ्गरेज़ी में कल्पना के लिए एक और शब्द प्रयुक्त होता है 'फ़ैन्सी', जिसका अर्थ साधारणतः कल्पना की ललित क्रीड़ा समझा जाता है। कॉलरिज ने उसका जो अर्थ किया है—स्मरण का एक प्रकार—वह हमारी समझ में नहीं आता, और न वह प्रचलित अर्थ ही है।

कल्पना के ये ही प्रमुख रूप हैं, उसके विभिन्न प्रयोग इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं। परन्तु फिर भी उनकी पृथक् सीमाओं का निर्देश करना साहित्य के विद्यार्थी के लिए उतना ही कठिन है जितना दार्शनिक के लिए निश्चय पूर्वक यह कहना कि कल्पना केवल मन की ही क्रिया है अथवा मन, बुद्धि और चित्त तीनों की।

५

हिन्दी-उपन्यास

कुछ दिन से हिन्दी-उपन्यास पर एक लेख लिखने का भार मन पर झूल रहा था। कल रात को उसी की रूप-रेखा बना रहा था। कभी प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकरण की बात सोचता, कभी समस्याओं के, और कभी टेक-नीक के आधार पर। रूप-रेखा कुछ बनती भी थी। परन्तु परसों शाम ही को सुना हुआ जैनेन्द्रजी का यह वाक्य गूँज उठता था कि तुम लोग, यानी पेशेवर आलोचक (और उनका यह विशेषण मुझ-जैसे लोगों ही को नहीं, आचार्य शुक्ल, डॉक्टर ब्रैडले आदि-जैसे आलोचकों को भी आलिंगन-पाश में बांधने के लिए अपनी विशाल बाँहें फैलाए हुए था) लेखक की आत्मा को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते, बल्कि उस पर अपना ही मत थोपते रहते हो। अन्त में मेरे मन में एक बात आई : क्यों न एक मूलग्राही प्रश्नावली द्वारा उपन्यास-कारों से मिलकर अपने-अपने उपन्यास-साहित्य के विषय में उन सभी के दृष्टि-कोण जान लूँ, और फिर उन्हें ही मनोविश्लेषण के आधार पर संश्लिष्ट करके एक मौलिक लेख तैयार कर लूँ? यह विचार कुछ और आगे बढ़ता, परन्तु एक यह समस्या आकर खड़ी हो गई कि यह सब इतनी जल्दी कैसे हो सकता है, और फिर हिन्दी के सभी प्रतिनिधि उपन्यासकारों से मिलने के लिए तो इहलोक की ही नहीं परलोक की भी यात्रा करनी पड़ेगी। लेख की मौलिकता, उसके द्वारा हिन्दी-आलोचना में एक नई दिशा प्रशस्त करने का लोभ अथवा और कुछ भी कम-से-कम इस दूसरे उपाय का प्रयोग करने के लिए मुझे राज़ी न कर सका। अन्त को मानसिक श्रम से थककर मैं सो गया।

रात को मैंने देखा कि एक बृहत् साहित्यिक समारोह लगा हुआ है। साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन तो नहीं, क्योंकि उसमें इस प्रकार के नगण्य विषयों के विवेचन का लोगों को कम ही अवसर मिलता है। पर कुछ भी हो, मैंने देखा उसी समारोह के अन्तर्गत उपन्यास अङ्ग को लेकर विशिष्ट गोष्ठी का आयोजन हुआ है, जिसमें हिन्दी के लगभग सभी उपन्यासकार उपस्थित हैं। पहले उपन्यास के स्वरूप और कर्त्तव्य-कर्म को लेकर चर्चा चली। कर्त्तव्य-कर्म के विषय में यहाँ तक तो सभी सहमत हो गए कि जो साहित्य का कर्त्तव्य-कर्म है वही

उपन्यास का भी, अर्थात् जीवन की व्याख्या करना। पहले श्रीयुत् देवकीनन्दन खत्री का इस विषय में मतभेद था, परन्तु जब 'व्याख्या' के साथ 'आनन्दमयी' विशेषण जोड़ दिया गया तो वे भी सहमत हो गए। स्वरूप पर काफी विवाद चला। अन्त में मेरे ही समवयस्क से एक महाशय ने प्रस्ताव किया कि इस प्रकार तो समय भी बहुत नष्ट होगा और कुछ सिद्धि भी नहीं होगी। हिन्दी के सभी प्रतिनिधि उपन्यासकार उपस्थित हैं, अच्छा हो यदि वे एक-एक करके बहुत ही संक्षेप में उपन्यास के स्वरूप और अपने उपन्यास-साहित्य के विषय में अपना-अपना दृष्टिकोण प्रकट करते चलें। उपन्यास के स्वरूप और हिन्दी के उपन्यास के विवेचन का इससे सुन्दर ढङ्ग और क्या हो सकता है! प्रस्ताव काफ़ी सुलझा हुआ था। फलतः सभी ने मुक्त कण्ठ से उसे स्वीकार कर लिया। विवेचन में एकता और एकाग्रता बनाए रखने के विचार से उन्हीं सज्जन ने तत्काल ही एक प्रश्नावली भी पेश कर दी, जिसके आधार पर उपन्यासकारों से बोलने की प्रार्थना की जाय। उसमें केवल तीन प्रश्न थे—

(१) आपके मत में उपन्यास का वास्तविक स्वरूप क्या है?
(२) आपने उपन्यास क्यों लिखे हैं?
(३) अपने उद्देश्य में आपको कहाँ तक सिद्धि मिली है?

यह प्रश्नावली भी तुरन्त स्वीकृत हो गई, और प्रस्तावकर्ता से ही कह दिया गया कि आप ही कृपा करके इस कार्यवाही को गति दे दीजिए। अस्तु!

सबसे पहले उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द जी से शुरू किया जाता। लेकिन प्रेमचन्दजी ने सविनय एक ओर इशारा करते हुए कहा—"नहीं, नहीं, मुझसे पहले मेरे पूर्ववर्ती बाबू देवकीनन्दन खत्रीजी से प्रार्थना करनी चाहिए। देवकीनन्दनजी हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार हैं।" प्रेमचन्दजी के आग्रह पर एक सामान्य-सा व्यक्ति, जिसकी आकृति मुझे स्पष्टतः याद नहीं, धीरे से खड़ा हुआ और कहने लगा—"भाई, आज तुम्हारी दुनिया दूसरी है, तुम्हारे विचारों में दार्शनिकता और नवीनता की छाप है। हम तो उपन्यास को कल्पित कथा समझते थे। इसके अतिरिक्त उसका कुछ और स्वरूप हो सकता है, यह तो हमारे ध्यान में भी नहीं आता था। मैंने स्वदेश-विदेश की विचित्र कथाएँ बड़े मनोयोग से पढ़ी थीं और उनको पढ़कर मेरे दिल में यह आया था कि मैं भी इसी प्रकार के अद्भुत कथानक लिखकर जनता का मनोरंजन करके यश-लाभ करूँ। इसीलिए मैंने 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' लिख डाली। अद्भुत के प्रति बहुत अधिक आकर्षण होने के कारण मेरी कल्पना उत्तेजित होकर उस

चित्र-लोक की रचना कर सकी। आखिर लोगों के पास इतना समय था और जीवन की गति इतनी मन्दी थी कि उन्हें आवश्यकता थी किसी ऐसे साधन की, जो उसमें उत्तेजना भर सके। बस, वे साहित्य में उत्तेजना की माँग करते थे। इसके अतिरिक्त मनुष्य यह तो सदा अनुभव करता है कि यह जीवन और जगत् अनन्त रहस्यों का भण्डार है, परन्तु साधारणतः कल्पना की आँखें खुली न होने के कारण यह उनको देख नहीं पाता। उसका कौतूहल जैसे इस तिलिस्म के द्वार से टकराकर लौट आता है और उसे यह इच्छा रहती है कि ऐसा कुछ हो जो इस जादूघर को खोल सके। मेरे उपन्यास मनुष्य की ये दोनों माँग पूरी करते हैं—उनके मन्द जीवन में उत्तेजना पैदा करते हैं और उसकी कौतूहल-वृत्ति की तृप्ति करते हैं। इसीलिए वे इतने लोकप्रिय रहे है—असंख्य पाठकों को उनसे जो वह चाहते थे मिला। इससे बढ़कर उनकी या मेरी सिद्धि और क्या हो सकती है ? वे जीवन की व्याख्या करते हैं या नहीं यह मैं नहीं जानता। मैंने कभी इसकी चिन्ता भी नहीं की—परन्तु मनोरञ्जन अवश्य करते हैं—मन की एक भूख को भोजन देते है, बस।"

इसके उपरान्त मुन्शी प्रेमचन्द बिना किसी तकल्लुफ़ के आप-ही-आप खड़े हो गए और निहायत ही सादगी और सचाई से कहने लगे—"भाई, सवाल तुम्हारे कुछ मुश्किल हैं। उपन्यास के स्वरूप या अपने उपन्यास-साहित्य का तात्त्विक विवेचन तो मैं आपके सामने शायद नहीं कर पाऊँगा; पर मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ—मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। मानव-चरित्र कोई स्वतः सम्पूर्ण तथ्य नहीं है, वह वातावरण-सापेक्ष्य है, इसलिए उस पर वातावरण की सापेक्षता में ही प्रकाश डाला जा सकता है। आज का उपन्यासकार आज के वातावरण अर्थात् आज की राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं की व्याख्या करता हुआ ही मानव-चरित्र की व्याख्या कर सकता है। लेकिन व्याख्या शब्द को ज़रा और साफ़ करना होगा। व्याख्या से मेरा मतलब सिर्फ़ स्वरूप, कार्य-कारण वग़ैरह का विश्लेषण करके उसके भिन्न-भिन्न तत्त्वों को अलग-अलग सामने रख देना नहीं है। वह तो वैज्ञानिक का ही काम है—और दरअसल सच्चे वैज्ञानिक का भी नहीं, क्योंकि वह भी उस विश्लेषण में से कोई जीवनोपयोगी तथ्य निकालकर ही सन्तुष्ट होता है। उपन्यासकार की व्याख्या तो इससे बहुत अधिक है—वह तो निर्माण की अनुवर्तिका है। मेरा जीवन-दर्शन वैज्ञानिक नहीं है, शुद्ध उपयोगितावादी

है। यानी मैं मानता हूँ कि उपन्यासकार का कर्तव्य है कि वह परिस्थितियों के बीच में रखकर मानव-चरित्र का विश्लेषण करके यह समझ ले कि कहाँ क्या गड़बड़ है, और फिर क्रमशः उस अव्यवस्था तक ले जाय जहाँ वह गड़बड़, वह सारी असङ्गति मिट जाय और जो मानव-चरित्र का आदर्श रूप हो। यहाँ मैं स्वप्न-लोक या स्वर्ग-लोक की सृष्टि की बात नहीं करता—वहाँ तो वास्तव का आँचल ही आपके हाथ से छूट जाता है। आज की भौतिक वास्तविकताओं में घिरे हुए मानव-चरित्र का निर्माण इस प्रकार नहीं होगा। परिस्थिति के अनुकूल उसका एक ही मार्ग है और वह है आज के यथार्थ में से ही आदर्श के तत्त्वों को ढूँढ़कर उसका निर्माण करना। मैं इसी भावना से प्रेरित होकर उपन्यास लिखता हूँ। मेरे उपन्यास कहाँ तक आज के मानव को आत्म-परिष्कार के प्रति, यानी परिस्थितियों के प्रकाश में अपनी ख़ामियों को समझकर उनको दूर करने के लिए जागरूक कर सके हैं, यह मैं नहीं जानता। पर मेरी सिद्धि इसी के अनुपात से माननी चाहिए। मेरा उद्देश्य केवल मनोरञ्जन करना नहीं है—वह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसख़रों का···। (सहसा बाबू देवकीनन्दन खत्री की ओर देखकर एकदम शर्म से लाल होकर फिर ठहाका मारकर हँसते हुए)—आशा है आप मेरा मतलब ग़लत नहीं समझ रहे हैं।"

प्रेमचन्द जी के बाद कौशिकजी खड़े हुए। मुझे अच्छी तरह याद नहीं उन्होंने क्या कहा, पर शायद उन्होंने प्रेमचन्द जी की ही बात को दुहराया।

अब प्रसादजी से प्रार्थना की गई। पहले तो वे राज़ी नहीं हुए। परन्तु जब लोगों ने विशेष अनुरोध किया तो वे अत्यन्त शान्त-संयत मुद्रा में खड़े हुए और कहने लगे—"हिन्दी के आलोचकों ने मेरी कविता और नाटकों को रोमाण्टिक आदर्शवाद की कक्षा में रखा है और मेरे उपन्यासों को यथार्थवाद की कक्षा में। मैं नहीं कह सकता कि मूलतः मेरे साहित्य के बीच कोई ऐसी विभाजक रेखा खींची जा सकती है। फिर भी यह सत्य है कि मुझे कविता-नाटक की अपेक्षा उपन्यास में यथार्थ को आँकना सरल प्रतीत होता है। कारण केवल यही है कि वह अपेक्षाकृत सीधा माध्यम है। आज धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विषमताओं के कारण जीवन में जो गहरी गुत्थियाँ पड़ गई हैं, उनसे मैं निरपेक्ष होकर पलायन नहीं कर सकता—आह, यदि यह सम्भव होता! परन्तु प्रेमचन्द जी की तरह सामूहिक बहिर्मुखी प्रयत्नों में मुझे उनका समाधान सरलता से नहीं मिलता। जिन संस्थाओं पर समाज बालक की तरह

आश्रय के लिए झुकता है वे अन्दर से कितनी कच्ची और घुनी हुई हैं ? प्रवृत्ति के एक धक्के को भी सँभालने का उनमें बल है ? मुझे विश्वास ही नहीं हो सकता कि संस्थाओं का यह नया व्यसन जीवन का किसी प्रकार भी गतिरोध कर सकेगा। ऐसा क्या है, जिसके नाम पर प्रवृत्ति को झुठलाया जाय ? और प्रवृत्ति भी क्या सत्य है ? यही आज के जीवन का दर्शन है—और मैं इसको पूरी चेतना के साथ अनुभव कर रहा हूँ। यह आपको मेरे सम्पूर्ण साहित्य में मिलेगा—उपन्यास में प्रतीकों के अधिक परिचित होने के कारण यह शायद अधिक मुखर हो गया है।"

इसके बाद बाबू वृन्दावनलाल वर्मा के नाम से एक सज्जन, जिनके मूर्धन्य पर शोभित फ़ैल्ट कैप उनके परम्परा-प्रेम की दुहाई दे रही थी, उठ खड़े हुए और बोले—"भई, उपन्यास को मैं उपन्यास ही समझता हूँ, और बुन्देलखण्ड के ये ही नदियाँ, नाले या नदी-नाले, झीलें और पर्वत-वेष्टित शस्य-श्यामल खेत मेरी प्रेरणा के प्रधान कारण हैं। इसलिए मुझको हिस्टौरिकल रोमान्स पसन्द है। अन्य कारण जानकर क्या करियेगा। इसी रोमाण्टिक वातावरण में बाल्य-काल से ही मैं अपनी आँखों से चारों ओर एक वीर जाति के जीवन का खण्डहर देखता आया हूँ, और अपने कानों से उसकी विस्मय-गाथाएँ सुनी हैं। अतएव स्वभाव से ही मैं आप-से-आप कल्पना के द्वारा उन दोनों को जोड़ने लगा। वे कहानियाँ इन खण्डहरों में जीवन का स्पन्दन भरने लगीं, और ये खण्डहर उन कहानियों में जीवन की वास्तविकता। मैं उपन्यास लिखने लगा। मेरे उपन्यास यदि उस गौरव-इतिहास को आपके मन में जगा पाते हैं तो वे सफल ही हैं।"

जिस समय ये लोग भाषण दे रहे थे एक हृष्ट-पुष्ट आदमी, जिसके लम्बे-लम्बे बाल अधनंगा शरीर एक अजीब फक्कड़पन का परिचय दे रहे थे, बीच-बीच में काफ़ी चुनौती-भरे स्वर में फ़िक़रे कसकर लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। पूछने पर मालूम हुआ कि आप हिन्दी के निर्द्वन्द कलाकार उग्रजी हैं। वृन्दावनलाल जी का भाषण समाप्त होने पर लोग उनसे प्रार्थना करने ही वाले थे कि आप ख़ुद ही उठ खड़े हुए और बोले—"ये लोग तो सभी मुर्दा हो गए हैं। जिसमें जोश ही नहीं रहा वह क्या उपन्यास लिखेगा ? और जोश सुधार, आत्म-परिष्कार के नाम पर अपने को और दूसरों को धोखा देने वाले लोगों में कहाँ ? जोश आता है नीति की चहारदीवारों को तोड़कर विधि-निषेधों का जी भरकर मजा लेने से। जोश आता है, जिससे ये लोग

तामस और पाप कहकर दूर भगाते हैं, उसका मुक्त उपभोग करने से, जब कि मनुष्य की सच्ची वृत्तियाँ दमन की शृङ्खलाएँ तोड़कर स्वच्छन्द होकर जीवन का मांसल अनुभव करती हैं। आज यह जोश में—मेरे ही उपन्यास दे सकते हैं; जिनके आत्म-रूप नायक अक्सर आते ही नपुंसक बन जाते हैं उनसे इसकी क्या आशा की जा सकती है?" यह कहकर उन्होंने अपने व्यङ्ग को और अधिक स्थूल बनाते हुए जैनेन्द्र जी की ओर देखकर हँस दिया।

जैनेन्द्रजी पर चोट का असर तो तुरन्त ही हुआ, पर उन्होंने अपने को हत-प्रभ नहीं होने दिया। हाथ को घुमाकर नर्म की चादर को सँभाला और एक खास सादगी के अन्दाज़ से आँखों को मठराते हुए ऊपर के होठ से नीचे के होठ को लपेटकर बोले—"अरे भई, उग्रजी के जोश में उबाल लाने वाली चीज़ हमें कहाँ प्राप्त है" और फिर एक नज़र यह देखकर कि उनके इस हाजिर जवाब का प्रेमचन्द जी और सियारामशरण जी पर क्या असर पड़ा है, कहने लगे, "मुझे कुछ—मुझे कुछ ऐसा लगता है कि उपन्यास जैसे आज परिभाषा की मर्यादा तोड़कर विशृङ्खल हो गया है। उसका स्वरूप जैसे कुछ नहीं है और सब-कुछ है। वह कोई भी स्वरूप धारण करता है। आज के जीवन की तरह वह जैसे एकदम अनिश्चित होकर दिशा खो बैठा है। इसीलिए आज के जीवन की अभिव्यक्ति का सच्चा माध्यम उपन्यास ही है। मैं उपन्यास क्यों लिखता हूँ यह मैं क्या जानूँ? मेरे उपन्यास जैसे हैं वैसे हैं ही—वे बड़े बेचारे हैं। परन्तु मुझे मालूम पड़ता है कि मेरे मन में कुछ है जो बाहर आना चाहता है—और उसको कहने के लिए मैं उपन्यास या कहानी या लेख, जब जैसी सुविधा होती है लिख बैठता हूँ। आप पूछेंगे यह क्या है जो कि बाहर आना चाहता है। यह है जीवन की अखण्डता की भावना। मुझे अनुभव होता है कि यह जीवन और जगत् जैसे मूलतः एक अखण्ड तत्त्व है—आज इसकी यह अखण्डता खण्डित हुई-सी लगती ही है—लगती ही है, दरअसल है नहीं। आज का मानव इसी भ्रम में पड़कर भटक रहा है—उसके हाथ से जीवन की कुञ्जी खो गई है, और कुञ्जी है यही अखण्डता की भावना। मैं चाहता हूँ कि वह इसे ढूँढ निकाले, नहीं तो निस्तार नहीं है। और इसे ढूँढने का साधन है केवल एक प्रेम या अहिंसा। प्रेम या अहिंसा का अर्थ है दूसरे के लिए अपने को पीड़ा देना—पीड़ा में ही परमात्मा बसता है। मेरे उपन्यास आत्म-पीड़न के ही साधन हैं, और इसीलिए मैंने उनमें काम-वृत्ति की प्रधानता रखी है, क्योंकि काम की यातनाओं में ही आत्म-पीड़न का तीव्रतम रूप है। वे पाठक

को जितनी आत्म-पीड़न की प्रेरणा देते हैं, जितना उसके हृदय में प्रेम पैदा करके जीवन की अखण्डता का अनुभव कराते हैं उतने ही सफल कहे जा सकते हैं।" इतना कहते हुए बड़े ही आहिस्ता से (जैसे ऐसा करने में भी किसी प्रकार की हिंसा का डर है) वे बैठ गए।

इसके बाद सियारामशरण जी से प्रार्थना की गई कि वे अपना मन्तव्य प्रकट करें। परन्तु उन्होंने बड़े ही दैन्य से कहा—"हम क्या कहेंगे, अभी जैनेन्द्र भाई ने जैसा कहा है हमारा भी वैसा ही मत है।"

तब पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी का नम्बर आया। अपने गोलाकार मुख-मण्डल को थोड़ा और गोल करते हुए वे बोले—"उपन्यास-सम्राट् श्रीयुत् प्रेमचन्दजी और साथियो, मेरे भाई जैनेन्द्रजी ने जो कहा अभी तक मेरा भी बहुत-कुछ वही मत था। परन्तु आज मैं स्पष्ट देखता हूँ—और यह कहते हुए अञ्चलजी की ओर देखकर वे अत्यन्त गम्भीर हो गए, जैसे जो कुछ कहने जा रहे हैं वह उन्हें अञ्चलजी के मुख पर साफ़ नजर आ रहा है) कि आज के मानव की मुक्ति पीड़ा में नहीं है, जीवन की आर्थिक विषमताओं को दूर करने में है। आज मुझे शरत् या गाँधी नहीं बनना, शीलोखोव और स्तालिन बनना है।"

अब वात्स्यायनजी अपना दृष्टिकोण प्रकाशित करें—माँग हुई। वात्स्यायनजी ने अपना वक्तव्य आरम्भ कर दिया। परन्तु मैं चूँकि थोड़ा दूर बैठा था, मुझे सिर्फ़ उनके होंठ ही हिलते दिखाई देते थे, सुनाई कुछ नहीं पड़ता था। उग्रजी ने एक बार उनको ललकारा भी—"अरे सरकार, जरा दम से बोलिए, आखिर आप स्वगत-भाषण तो कर नहीं रहे, मजलिस में बोल रहे हैं।" पर वात्स्यायनजी पर जैसे उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे उसी स्वर में बोलते रहे। हारकर मुझे ही उनके पास जाना पड़ा। वे कह रहे थे.........."या यों कहिए कि आपके सामने मेरा एक ही उपन्यास है। उसमें, जैसा कि मैंने प्रवेश में कहा है, मेरा दृष्टिकोण सर्वथा बौद्धिक रहा है। एक व्यक्ति का पूरी ईमानदारी से, अपने राग-द्वेष को सर्वथा पृथक् रखकर, वस्तुगत चित्रण करना और तज्जन्य बौद्धिक आनन्द को स्वयं ग्रहण करना तथा पाठक को ग्रहण कराना मेरा उद्देश्य रहा है। किसी व्यक्ति का, विशेषकर उस व्यक्ति का जो अपनी ही सृष्टि हो, चरित्र-विश्लेषण करने में अपने राग-द्वेषों को अलग रखते हुए पूरी ईमानदारी बरतना स्वयं अपने में एक बड़ी सफलता है। आप शायद यह कहेंगे कि यह व्यक्ति मेरी सृष्टि ही नहीं मैं स्वयं हूँ और यह विश्ले-

षण अपने ही व्यक्ति-विकास का विश्लेषणात्मक सिंहावलोकन है। तब तो ईमानदारी और वस्तुगत चित्रण का महत्त्व और भी कई गुना हो जाता है। क्योंकि अपने को पीड़ा देना तो आसान है; पर राग-द्वेष-विहीन होकर अपनी परीक्षा करने में असाधारण मानसिक शिक्षण और संतुलन की आवश्यकता होती है, इससे प्राप्त आनन्द राग-द्वेष में बहने के आनन्द से कहीं भव्यतर है। मैंने इसी को पाने और देने का प्रयत्न किया है। 'शेखर' को पढ़कर आप जितना ही इस आनन्द को प्राप्त कर पाते हैं उतनी ही मेरी सफलता है।"

इतने ही में इलाचन्द्रजी स्वतःप्रेरित-से बोल उठे—"वात्स्यायनजी की बौद्धिक निरुद्देश्यता का यह आनन्द कुछ मेरी समझ में नहीं आया। मैं उनके मनोविश्लेषण की सूक्ष्मता और सत्यता का क़ायल हूँ, परन्तु व्यक्ति का विश्लेषण करके उसको एक समस्या बनाकर ही छोड़ देना तो मनोविश्लेषण का दुरुपयोग है। स्वयं फ़ॉयड ने भी मनोविश्लेषण को साधन ही माना है, साध्य नहीं। चरित्र में पड़ी हुए ग्रन्थियों को सुलझाकर वह हमें मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है और इस प्रकार व्यक्ति की, फिर समाज की विषमताओं का समाधान करता है। यही आनन्द सच्चा आनन्द है—स्वस्थ आनन्द है।"

अब लोग थकने लगे थे। मुझे भी मन को एकाग्र रखने में कुछ कठिनाई-सी मालूम पड़ रही थी—शायद मेरी नींद की गहराई कम हो रही थी। इसलिए मुझे सचमुच बड़ा सन्तोष हुआ जब प्रश्नकर्ता महोदय ने उठकर कहा कि अब देर काफ़ी हो गई है, इतना समय नहीं है कि आज के सभी उदीयमान औपन्यासिकों के अपने-अपने मन्तव्यों को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो सके। अतएव अब केवल यशपालजी ही अपने विचार प्रकट करने का कष्ट करें।

यशपालजी बोले—"वात्स्यायनजी की बौद्धिकता को तो मैं मानता हूँ, परन्तु उनके इस तटस्थ या वैज्ञानिक आनन्द की बात मेरी समझ में नहीं आती। वास्तव में यह वैज्ञानिक आनन्द और कुछ नहीं शुद्ध आत्म-रति-मात्र है। वात्स्यायनजी घोर व्यक्तिवादी कलाकार हैं—उन्होंने जीवन और जगत् को अपनी सापेक्षता में देखा और अङ्कित किया है—जैसे सभी कुछ उनके अहं के चारों ओर चक्कर काट रहा है। मेरा दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत है। अपनी शक्तियों को अपनी व्यष्टि में ही केन्द्रीभूत कर लेना या अपनी व्यष्टि को सम्पूर्ण विश्व की धुरी मान लेना जीवन का बिलकुल ग़लत अर्थ समझना है। आत्म-रति एक भयङ्कर रोग है। उससे जीवन में

विषमयी ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं। जीवन का समाधान तो इसी में है कि व्यक्ति के घोंघे से निकलकर समष्टि की धूप में विचरण किया जाय। व्यक्ति में उलझे रहने से जीवन की समस्याएँ और उलझ जायँगी। उसके लिए सामाजिकता अनिवार्य है। व्यक्तियों पर ध्यान केन्द्रित करके उनको अनिवार्य महत्त्व देना मूर्खता है। सामूहिक चेतना जाग्रत कीजिए, गण-शक्ति का अर्जन कीजिए। परन्तु इसके साथ ही जैनेन्द्रजी के आत्म-निषेध को भी मैं नहीं मानता। जो है उसका निषेध करना बेमानी है और न कोई आत्म-निषेध करता है। आत्म-निषेध की सबसे अधिक बात करने वाले गाँधीजी ही सबसे बड़े आत्मार्थी हैं। अध्यात्मवाद, वैज्ञानिक तटस्थता आदि व्यक्तिवाद के ही विभिन्न नाम हैं। आज हमें आवश्यकता इस बात की है कि भ्रम-जाल से निकलकर जीवन की भौतिकता और सामाजिकता को स्वीकार करें। मेरे साहित्य का यही उद्देश्य है।"

गोष्ठी की कार्यवाही अब समाप्त हो चुकी थी। अन्त में प्रश्नकर्ता महोदय ने वक्ताओं को धन्यवाद देते हुए निवेदन किया—"अभी आपके सामने हिन्दी के कुछ प्रतिनिधि उपन्यासकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों की सुन्दर विवेचना की है। हिन्दी-उपन्यास के लिए वस्तुतः यह गौरव का दिन है जब-कि हमारे आदि-उपन्यासकार से लेकर नवीनतम उपन्यासकार तक (बाबू देवकीनन्दन खत्री से लेकर यशपाल तक) सभी एक स्थान पर मौजूद हैं (यद्यपि ऐसा कैसे सम्भव हो सका यह सोचकर वक्ता महोदय को बड़ा आश्चर्य हो रहा था) और उन्होंने स्वयं ही अपने दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण किया है। आपने देखा कि किस तरह इनका दृष्टिकोण क्रमशः बदलता गया है। किस तरह सामन्तीय से वह भौतिक-बौद्धिक हो गया है। देवकीनन्दन खत्री और यशपाल हमारे उपन्यास-साहित्य के दो छोर हैं। देवकीनन्दनजी का दृष्टिकोण—उनके औपन्यासिक मान—शुद्ध सामन्तीय हैं। साहित्य या उपन्यास उनके लिए एक जीवित शक्ति नहीं है, वह मनोरञ्जन का—उपभोग का एक उपकरण-मात्र है। वह जीवन की व्याख्या और आलोचना करने वाला एक चैतन्य प्रभाव नहीं है, उपभोग-जर्जर जीवन में झूठी उत्तेजना लाने वाली एक खुराक है। शारीरिक उत्तेजना के लिए जिस प्रकार लोग कुश्ते खाते थे, मानसिक उत्तेजना के लिए इसी प्रकार वे 'तिलस्म होशरुबा' या 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' पढ़ते थे। इस तरह से उस समय के जीवन के लिए 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव था

और कम-से-कम उसकी अनन्त-विहारिणी कल्पना का लोहा तो सभी को मानना होगा। वह मन को इस बुरी तरह जकड़ लेती है यही उसकी शक्ति का असंदिग्ध प्रमाण है। भारतीय जीवन की गति के अनुसार प्रेमचन्द तक आते-आते यह दृष्टिकोण बदलकर विवेक और नीति का दृष्टिकोण हो जाता है। उनके लिए उपन्यास सामाजिक जीवन का निर्माण करने वाला एक चेतन प्रभाव है, उपयोगिता और सुधार उसके दो ठोस उद्देश्य हैं, और नीति और विवेक दो साधन। जीवन से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। निदान उनका उपन्यास मानव-जीवन की ऊपरी सतह को छूकर नहीं रह जाता, वह उसके भीतर प्रवेश करता है। परन्तु चूँकि उसकी दृष्टि बहिर्मुखी है, सामाजिक जीवन पर ही केन्द्रित रहती है, इसलिए उसकी भी तो पैठ सीमित माननी ही पड़ेगी। नीति और विवेक के प्राधान्य के कारण प्रेमचन्द का उपन्यास प्राण-चेतना के आर-पार नहीं देख पाता—विवेकी को इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। उसकी विवेक की आँखें बीच में ही रुक जाती हैं, जीवन के अतल को स्पर्श नहीं कर पातीं। इसीलिए तो प्रेमचन्द जी की दृष्टि की व्यापकता, उदारता और स्वास्थ्य का क़ायल होकर भी मुझे उनमें और शरत् या रवि बाबू में बहुत अन्तर लगता है। प्रेमचन्दजी की इस बहिर्मुखी सामाजिकता को उसी समय प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा और उग्र ने चैलेञ्ज किया—प्रसाद ने निर्मम होकर सामाजिक संस्थाओं का गर्हित खोखलापन दिखाया, वृन्दावनलाल ने वर्तमान के इतिवृत्त को छोड़कर अतीत के विस्मय-गौरव की ओर संकेत किया, उग्र ने उनकी उथली नैतिकता को चुनौती दी। परन्तु गाँधीवाद के व्यवहार-पक्ष का लोक-रुचि पर उस समय इतना अधिक प्रभाव था कि प्रेमचन्द का गतिरोध करना असम्भव हो गया। उस समय लोगों की दृष्टि गाँधीवाद के व्यवहार-पक्ष तक ही सीमित थी, उनके अध्यात्म तक नहीं पहुँच पाई थी। जीवन के इस तल तक पहुँचने का प्रयत्न जैनेन्द्रजी ने किया है। विवेक और नीति से आगे अध्यात्म की ओर बढ़ने का उनको और सियारामशरणजी को आरम्भ से ही आग्रह रहा है। उनकी पीड़ा की फ़िलासफ़ी में गाँधीवाद का अध्यात्म पक्ष ही तो है। इस दृष्टिकोण की दो तात्कालिक प्रतिक्रियाएँ हमें भगवती बाबू की 'चित्रलेखा' और अज्ञेय के 'शेखर' में मिलती हैं। भगवती बाबू आस्तिक प्रवृत्तिवादी हैं। पीड़ा में उनका विश्वास नहीं। उनकी आस्था स्वस्थ उपभोग में है—अहं के निषेध में नहीं, अहं के परितोष में है। अज्ञेय का दृष्टिकोण शुद्ध वैज्ञानिक और बौद्धिक है। ये नास्तिक बुद्धिवादी हैं। उनके

इसी दृष्टिकोण की दृढ़ता और स्थिरता के कारण वास्तव में 'शेखर' हिन्दी की एक अभूतपूर्व वस्तु बन गया। बुद्धि की इस दृढ़ता के साथ काश अज्ञेय के पास आस्तिकता का समर्पण भाव भी होता ! यशपाल में यह प्रतिक्रिया एक पग और आगे बढ़ जाती है। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक न रहकर भौतिकवादी हो जाता है। अज्ञेय की बौद्धिकता उनमें भी है, परन्तु वैज्ञानिक आत्म-लीनता उनमें नहीं है—ये अपने बाहर जाते हैं, इनमें भौतिकवादी सामाजिकता है...... ।"

ऊबे हुए लोगों में से इतने में ही एक तेज आवाज आई—"आपने क्या खूब संश्लेषण किया है ! बस अब छुट्टी दीजिये !"—और मैंने आँखें मलते हुए देखा कि काफ़ी दिन चढ़ आया है और श्रीमतीजी पूछ रही हैं—"छुट्टी है क्या आज ?"

७

प्रसाद के नाटक

मूल चेतना

शान्त गम्भीर सागर, जो अपनी आकुल तरङ्गों को दबाकर धूप में मुस्करा उठा है, या फिर गहन आकाश, जो झंझा और विद्युत् को हृदय में समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है—ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था।

प्रसाद अपने मूल रूप में कवि थे, जीवन में उन्हें आनन्द इष्ट था, इसलिए वे शिव के उपासक थे। बस, शिव की उपासना उनके मन का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त है। शिव का शिवत्व इसी में है कि वे हलाहल को पान कर गए और उसको पचाकर फिर भी शिव ही बने रहे, उनका कण्ठ चाहे नीला हो गया हो, परन्तु मुख पर वही आनन्द का शान्त प्रकाश बना रहा। प्रसाद के जीवन का आदर्श यही था। वे बड़े गहरे जीवन-द्रष्टा थे। आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होंने देखा और सहा था, यह विष उनके प्राणों में एक तीखी जिज्ञासा बनकर समा गया था—उनकी आत्मा जैसे आलोड़ित हो उठी थी। इस आलोड़न को दबाते हुए आग्रह के साथ आनन्द की उपासना करना ही उनके आदर्श की व्याख्या करता है और यही उनके साहित्य की मूल-चेतना है।

ऐसा व्यक्ति, यह स्पष्ट है, संसार की भौतिक वास्तविकता को विशेष महत्त्व नहीं देगा। प्रायः वह उसको छोड़कर कहीं अन्यत्र आनन्द की खोज करेगा। एक शब्द में, उसका दृष्टिकोण रोमाण्टिक होना अनिवार्य है। वर्तमान से विमुख होने के कारण—जैसा रोमाण्टिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है—वह पुरातन की ओर जायगा या कल्पना-लोक की ओर। प्रसाद का यही रोमाण्टिक दृष्टिकोण उनकी सांस्कृतिक चेतना के लिए उत्तरदायी है।

नाटकों का आधार

प्रसाद के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है। आर्य-संस्कृति में उन्हें गहन आस्था थी, इसीलिए उनके नाटकों में भारत के इतिहास का प्रायः

वही परिच्छेद है, (चन्द्रगुप्त मौर्य से हर्षवर्धन तक) जिसमें उसकी संस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी : ब्राह्मण और बौद्ध संस्कृतियों के संघर्ष से जब उसका स्वरूप प्रखर हो उठा था।

एक ओर चाणक्य ब्राह्मण-धर्म की व्याख्या करता हुआ घोषित करता है : "ब्राह्मण एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है—वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों का संगठन कर लेगा।" दूसरी ओर भगवान् बुद्ध की शीतल वाणी सुनाई देती है: "विश्व के कल्याण में अग्रसर हो ! असंख्य दुखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है, इस दुःख-समुद्र में कूद पड़ो ! यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे !......विश्व-मैत्री हो जायगी—विश्व-भर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा !" इन्हीं दोनों धूप-छाँही डोरों से बुना हुआ प्रसाद के नाटकों का आधार है।

प्रसादजी प्राचीन भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य पर मुग्ध थे। स्वभाव से चिन्ताशील और कल्पना-प्रिय होने के कारण वे उसी युग मे रहते थे। कोलाहल की अवनी तजकर जब वे भुलावे का आह्वान करते हुए विराम-स्थल की खोज करते होंगे, उस समय यह रंगीन अतीत उन्हें सचमुच बड़े वेग से आकर्षित करता होगा। इसीलिए उनके नाटकों में पुनरुत्थान की प्रवृत्ति बड़ी सजग रहती है। 'कामना' का रूपक इसका मुखर साक्षी है। वे विदेशी छाया से आच्छादित भारतीय जीवन को फिर से उसी स्वर्ग की ओर प्रेरित करने की बात सोचा करते थे। उन्होंने देखा कि हमारा वर्तमान इतिहास ही नहीं भूत इतिहास भी विदेशी प्रभाव की छाया में मलिन हो गया है, अतः फिर से उसका सच्चा स्वरूप प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने भारतीय ग्रन्थों के ही आधार पर ऐतिहासिक अन्वेषण किये। उनके पुरातत्त्व-ज्ञान का आधार प्राचीन शिला-लेख, पाणिनि-व्याकरण, पतञ्जलि-योग, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, 'कथासरित्सागर', 'राजतरङ्गिणी', पुराण, प्राचीन-काव्य-ग्रन्थ आदि ही हैं। प्रसाद की यह जिज्ञासा गहरी थी, उनको अतीत के लिए सिर्फ़ रोमाण्टिक मोह ही नहीं था—चन्द्रगुप्त मौर्य, कालिदास, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि के विषय में उनकी खोजें अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखती है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के बिखरे अवयवों को जोड़कर उन्होंने अपनी भावुकता, चिन्ता और कल्पना द्वारा उसमें प्राण-संचार किया।

उन्होंने वातावरण की सृष्टि इतने सजीव रूप मे की है कि मौर्य एवं

गुप्तकालीन भारतीय जीवन हमारे सामने चित्रित हो जाता है—फिर से हम आज की पश्चिम-मिश्र-संस्कृति और उससे पहले की मुस्लिम-संस्कृति और उससे भी पूर्व की सामन्तीय-संस्कृति इन तीनों को लाँघकर आर्य-संस्कृति की छाया में पहुँच जाते हैं। यह पुनरुत्थान इतने सहज ढङ्ग से होता है कि दो हजार वर्ष का महान् अन्तर एक साथ तिरोहित हो जाता है। प्रसाद का दृश्य-विधान ही नहीं, उनके पात्रों के नाम, उपाधि, वेश-भूषा, चरित्र और बात-चीत सभी देश-काल के अनुकूल हैं। आम्भीक, अन्तर्वेद, गोपाद्रि, महाबलाधिकृत, कुमारामात्य आदि शब्दों का प्रयोग इस सांस्कृतिक वातावरण को उपस्थित करने का अमोघ साधन है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि युग-जीवन या युग-धर्म का प्रभाव प्रसादजी पर बिलकुल नहीं है। मैंने जैसा अभी निवेदन किया, प्रसादजी गहरे जीवन-द्रष्टा थे। उनका आधुनिक जीवन का भी अध्ययन असाधारण था—अतएव उनके नाटकों में आज की समस्याएँ स्पष्ट प्रतिबिम्बित मिलती हैं। चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त में राष्ट्रीयता एवं देश-भक्ति का भव्य आदर्श है। युद्ध में जब सिकन्दर एक बार आहत होकर गिर जाता है, उस समय सिंहरण के कण्ठ में बैठकर प्रसादजी की देश-भक्ति अमर स्वरों में फूट उठती है:

"मालव सैनिक—सेनापति, रक्त-पात का बदला! इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है। प्रतिशोध?

सिंहरण—ठहरो मालव वीरो, ठहरो। यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है।"

यह प्रसङ्ग इतिहास के अनुकूल हो अथवा नहीं, परन्तु इसमें बोलती हुई देश-भक्ति की भावना एकान्त दिव्य है। देश-भक्ति का इतना शुद्ध और पवित्र रूप मैंने हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र नहीं देखा।"

इसी प्रकार आज की प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता पर भी प्रसादजी के 'चन्द्रगुप्त' में अनेकों तीखे व्यंग्य हैं। चाणक्य की नीति का प्रमुख तत्त्व एक राष्ट्र की स्थापना ही तो है:

और मागध को भूलकर जब आर्यावर्त का नाम लोगे तभी

आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मणों में भेद न करेंगे।"

इसके अतिरिक्त हमारी अन्य समस्याएँ जैसे दाम्पत्य-सम्बन्ध-विच्छेद, धार्मिक अथवा जातीय दम्भ आदि का भी प्रौढ़ विवेचन स्थान-स्थान पर मिलता है। परन्तु प्रसाद की कला का यह चमत्कार है कि ये समस्याएँ उस पुरातन वातावरण में पूरी तरह से फ़िट कर दी गई हैं। जो लोग इस प्रकार के प्रभाव को ऐतिहासिक असङ्गति मानते है, वे वास्तव में मानव भावनाओं की चिरन्तनता को ग्रहण करने में अपनी अक्षमता-मात्र प्रकट करते हैं।

सुख-दुःख की भावना

प्रसाद के नाटकों के मूल तत्त्व को समझने के लिए उनकी सुख-दुःख की भावना को ग्रहण करना अनिवार्य है। उनके नाटक सभी सुखान्त हैं। परन्तु क्या उनको समाप्त करने पर पाठक के मन में सुख और शान्ति का प्रस्फुरण होता है ? नहीं। नाटक के ऊपर दुःख की छाया आदि से अन्त तक पड़ी रहती है और उसके मूल में एक करुण चेतना सुख की तह में छिपी हुई अनिवार्यतः मिलती है। प्रो० शिलीमुख ने बिलकुल ठीक कहा है कि प्रसाद की सुखान्त भावना प्रायः वैराग्यपूर्ण शान्ति होती है। इसका कारण है उनके जीवन की वही करुण जिज्ञासा, जो उनके प्राणों को सदैव विलोड़ित करती रहती थी। बौद्ध इतिहास और दर्शन के मनन ने उसे और तीखा कर दिया था। उनके नाटकों में बौद्ध और आर्य-दर्शन का संघर्ष और समन्वय वास्तव में दुःखवाद और आनन्द-मार्ग का ही संघर्ष और समन्वय है, जो उनके अपने अन्तर की सबसे बड़ी समस्या थी। इसी समन्वय के प्रभाववश उनके नाटक न पूर्णतः सुखान्त हैं और न दुःखान्त। उनमें सुख-दुःख जैसे एक-दूसरे को छोड़ना नहीं चाहते। कवि आग्रहपूर्वक सुख का आह्वान करता है, सुख आता भी है परन्तु तुरन्त ही दुःख भी अपनी झलक दिखा ही जाता है :

"सिल्यूकस—(कार्नेलिया की ओर देखता है; वह सलज्ज सिर झुका लेती है)—तब आओ बेटी, आओ चन्द्रगुप्त ! (दोनों ही सिल्यूकस के पास आते है, सिल्यूकस उनका हाथ मिलाता है। फूलों की वर्षा और जय-ध्वनि !)

चाणक्य—(मौर्य का हाथ पकड़कर) चलो, अब हम लोग चलें।"

इस प्रकार आप देख सकते हैं कि ये नाटक सुखान्त अथवा दुःखान्त न होकर प्रसादांत हैं। इसका एक प्रमाण और है, वह है रस का परिपाक।

नाटक की दीवार को घेरे हुए रहता है। चाणक्य और स्कन्दगुप्त ऐसे ही दो चित्र हैं। 'अजातशत्रु' की मल्लिका में विस्तार तो नहीं परन्तु शक्ति असीम है। इनमें महान् कोमल का एक स्पर्श-भर पाकर मुस्करा उठा है।

दूसरे चित्र गीतिमय हैं—वे प्रसाद जी की सूक्ष्म-कोमल गीति-प्रतिभा के प्रोद्भास हैं। इनमें जीवन की समस्त रेखाएँ अथवा विभिन्न रङ्ग नहीं हैं, इनमें एक रेखा है और एक धुँधला रेशमी रंग है—एक ही स्वर है। 'संगीत-सभाओं की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गंध-धूम-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ,—इन सबों की प्रतिकृति' हैं ये नारी चरित्र। देवसेना, मालविका और कोमा—ये तीन चित्र प्रसाद के नाटकों में उनकी ट्रैजेडी की सार-प्रतिमाएँ हैं। इनका व्यक्तित्व जैसे जीवन का सजीव कोमल-करुण व्यंग्य है।

मधु-सिंचन

प्रसाद के नाटक सभी मधु-सिंचित हैं। वे मूल रूप में कवि है, अतः उनके नाटकों में काव्य की गहरी एवं पृथुल अन्तर्धारा बह रही है। उनके सुन्दरतम गीतों का एक बहुत बड़ा अंश इन नाटकों में बिखरा मिलेगा। इसके अतिरिक्त वस्तु-चयन, पात्रों के व्यक्तित्व, वातावरण, कथोपकथन और सारभूत प्रभाव—सभी में कविता का रंगीन स्पन्दन है। प्रसाद ने अपनी रंगीन कल्पना के सहारे, दूर अतीत के बिखरे हुए प्रस्तर-खण्डों को एकत्रित करके उनमें प्राणों की कविता का रस भर दिया; अतएव परिणाम-स्वरूप जिन नाटकों का निर्माण हुआ उनका वातावरण रूप और रंग से जगमगा रहा है।

सबसे प्रथम उनके गीतों को ही लीजिये। यह सत्य है कि ये सभी गीत नाटकीय नहीं हैं। कुछ तो स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र हो गए हैं, परन्तु उनके भीतर जो वेदना की गहरी टीस, रूप-यौवन का चटकीला रंग एवं विलास की उष्ण गन्ध भरी हुई है, वह समस्त नाटक पर सौरभ-श्लथ वासन्ती समीर की भाँति संचरण करती रहती है।

यही बात वस्तु-विधान और चरित्राङ्कन में है। प्रसाद की घटनाएँ रोमांस और रस से परिपुष्ट हैं। अंधेरी रात में मागंधी और शैलेन्द्र का मिलन, चाणक्य का सर्वस्व त्याग, स्कन्दगुप्त और देवसेना की विदा, मालविका का बलिदान—सभी-कुछ एक मूक कविता है। पात्रों की स्नायुओं में भी रस का

प्रभूत संचार हो रहा है। इनमें से कतिपय तो एकांत कवित्वमय हैं। उनका अस्तित्व ही नाटक में कविता की साँस फूँकने को होता है। ये पात्र प्रायः नारी-पात्र होते हैं जिनके जीवन के विरल मधुर क्षण फूल के समान खिलकर अपना सौरभ छोड़ जाते हैं। इनके अतिरिक्त प्रायः और सब पात्र भी अपने स्रष्टा के कवित्व के भागी हुए हैं—चाणक्य के कर्म-कठोर व्यक्तित्व में भी बाल्यकाल की स्मृतियाँ भाँवरियाँ ले रही हैं। ये नाटक गद्य-गीतों का अक्षय भाण्डार है। उदाहरण के लिए :

१—"अकस्मात् जीवन-कानन में, एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन ?' कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी ! फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू-भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती हैं।"

२—"धड़कते हुए रमणी-वक्ष पर हाथ रखकर, उस कम्पन में स्वर मिलाकर कामदेव गाता है और राजकुमारी वही काम-सङ्गीत की तान सौन्दर्य की लहर बन कर युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।"

अब सारभूत प्रभाव लीजिये। वह न तो वास्तविकता की माँग पूरी करता है और न किसी आदर्श की पूर्ति। उसके पीछे भी सिद्धान्त का नहीं, काव्य का आग्रह है। देखिए 'स्कन्दगुप्त' का अंतिम दृश्य :

"स्कन्दगुप्त—देवी, यह न कहो। जीवन के शेष दिन कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुखी लोग, एक दूसरे का मुँह देखकर काट लेंगे। हमने अन्तर की प्रेरणा से जो निष्ठुरता की थी, वह इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए। परन्तु इस नन्दन की वसन्त-श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी, तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ (कुछ ठहरकर सोचते हुए) और किस वज्र-कठोर हृदय से रोकूँ ?······

······देवसेना ! देवसेना !! तुम जाओ। हत-भाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द, ओह !!

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है; तपस्या अग्नि है। सम्राट्,

यदि इतना भी न कर सके तो क्या ! सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए ! मेरे इस जीवन के देवता ! और उस जीवन के प्राप्य ! क्षमा !

-(घुटने टेकती है; स्कन्द उसके सिर पर हाथ रखता है)"

दोष

प्रसाद के नाटकों के दोष शायद उनके गुणों से अधिक स्पष्ट हैं।

सबसे पहला दोष रङ्गमञ्च-विषयक है। उनके नाटक में अभिनय की त्रुटियाँ है। उनमें युद्ध, अभियान आदि के ऐसे दृश्य हैं जो मञ्च पर काफ़ी गड़बड़ करेंगे। दूसरे उनकी अपरिवर्तनशील गम्भीर भाषा में अभिनयोचित चाञ्चल्य नहीं है। अनावश्यक दृश्यों की संख्या भी बहुत है।

दूसरा बड़ा दोष है एकता का अभाव। उसके लिए शायद उत्तरदायी हैं प्रसाद के मन में चलता हुआ सुख-दुःख का संघर्ष, जिसके समाधान का प्रयत्न वे अन्त तक करते रहे थे। 'राज्यश्री' या 'ध्रुवस्वामिनी' में वस्तु-विस्तार कम होने से यह दोष नहीं आया। 'ध्रुवस्वामिनी' का सारभूत प्रभाव तो पूर्णतः एकसार है। परन्तु 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त'-जैसे बड़े नाटकों में घटना-बाहुल्य में फँसकर नाटक की एकता अस्त-व्यस्त हो गई है। इन दोनों नाटकों म ऐसी घटनाएँ और पात्र हैं जो प्रभाव की एकता के लिए अनावश्यक ही नहीं वरन् घातक भी हैं। 'स्कन्दगुप्त' में धातुसेन, पृथ्वीसेन, मातृगुप्त, मुद्गल और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्रसंगों का क्या प्रयोजन है ? 'चन्द्रगुप्त' में चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण बीच में इतना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि कथा-वस्तु वहाँ एक बार दम तोड़कर फिर उठती है।

तीसरा प्रमुख दोष यह है कि वस्तु-विधान में कहीं-कहीं बड़े भद्दे जोड़ लगे हुए हैं। अनेक स्थानों पर नाटककार को घटनाओं की गति-विधि सँभालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिए उसे या तो वांछित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाड़कर उपस्थित कर देना पड़ा है अथवा किसी का जबरदस्ती गला घोंटना पड़ा है। यह बड़े नाटकों में सर्वत्र हुआ है।

महत्त्व

इस प्रकार इन नाटकों का महत्त्व असम है। एक ओर जहाँ पाठक उनके दोषों को देखकर विक्षुब्ध हो उठता है, दूसरी ओर उनकी शक्ति और

कविता से अभिभूत हुए बिना भी नहीं रह सकता। ये नाटक अंशों में जितने महान् हैं सम्पूर्ण रूप में उतने नहीं। प्रसाद की ट्रैजेडी की भावना, उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना, उनके महान् कोमल चरित्र, उनके विराट मधुर दृश्य, उनका काव्य-स्पर्श हिन्दी में तो अद्वितीय है ही, अन्य भाषाओं के नाटकों की तुलना में भी उनकी ज्योति मलिन नहीं पड़ सकती।

८

गुलेरीजी की कहानियाँ

हमारे एक साहित्यिक मित्र ने जीवन के कुछ सिद्धान्त स्थिर कर रखे हैं। उनमें से एक यह भी है कि अध्ययन का मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतएव वे व्यक्तित्व के मूल्यांकन में विद्वत्ता को प्राय: अवगुण ही मानते हैं। उनका कहना है (और बात काफ़ी हद तक ठीक भी है) कि विद्वत्ता के अनुपात से ही व्यक्ति की प्राणवत्ता में कमी होती जाती है। विद्वान् व्यक्ति प्राय: प्राणवान् नहीं रह पाता, उसके दृष्टिकोण में जीवन की ताजगी न रहकर पुस्तक-ज्ञान का बोझीलापन आ जाता है।

गुलेरीजी इस सिद्धान्त के अपवाद हैं। उच्च कोटि की विद्वत्ता के साथ ही उतनी ही प्राणवत्ता भी उनके व्यक्तित्व में पाई जाती है। वे अपने युग में शुद्ध प्रथम श्रेणी के विद्वान् थे। पुरातत्त्व, इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, साहित्य, भाषा-विज्ञान—सभी में उनकी अबाध गति थी। संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं और हिन्दी, बँगला, मराठी, अङ्गरेजी आदि आधुनिक भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। लैटिन, जर्मन और फ्रेञ्च का भी उन्हें ज्ञान था। परन्तु अपने इस असाधारण पांडित्य को उन्होंने सदैव जीवन का साधन ही माना, साध्य नहीं बनने दिया। उनकी जीवन-चेतना इतनी प्रबल थी कि पांडित्य उसको पुष्ट तो कर सका, पर दबा नहीं सका।

गुलेरीजी का संक्षिप्त जीवन सब प्रकार से सफल ही कहा जा सकता है। वे पुत्र, वित्त और लोक—तीनों ओर से सुखी थे। विद्यार्थी-जीवन में उन्हें स्पृहणीय सफलता मिली थी। हाई स्कूल और बी. ए. में वे सर्व-प्रथम रहे थे। यौवन-काल में भी सफलता उनके चरण चूमती रही। पहले वे जयपुर राज्य के सभी सामन्त-पुत्रों के अभिभावक रहे। बाद में उन्होंने बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी में कॉलेज ऑव ओरियण्टल लर्निङ्ग एण्ड थियॉलॅजी के प्रिंसिपल पद को सुशोभित किया। लोक-जीवन में भी उनको अक्षय गौरव प्राप्त हुआ था। काशी-नागरी-प्रचारिणी का सभापतित्व, देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक-माला एवं सूर्यकुमारी पुस्तकमाला का सम्पादन, अनेक लेखों का स्वदेशी-

विदेशी विद्वानों द्वारा अभिनन्दन—ये सब उनके गौरव की स्वीकृति के विभिन्न रूप थे। परन्तु गौरव दीर्घजीवी नहीं होता ! उन्तालीस वर्ष की अल्पायु में ही समस्त दिशाओं को उद्भासित करके यह प्रकाश-पुञ्ज भी तिरोहित हो गया और विद्वान् लोग यह अनुमान लगाते ही रह गए कि अगर कुछ और समय मिलता तो शायद वह हिन्दी-जगत् को समग्रतः आच्छादित कर लेता।

गुलेरीजी ने हिन्दी-साहित्य के अनेक विभागों को समृद्ध किया। भाषा-तत्त्व और पुरातत्त्व पर उनका पर्याप्त साहित्य विद्यमान है। पुरानी हिन्दी और शिशुनाग-मूर्तियों पर लिखे हुए उनके लेख आज भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। परन्तु मैं उनके इस साहित्यांग को स्पर्श नहीं करूँगा, क्योंकि मैं उसकी मीमांसा करने का अधिकारी नहीं हूँ। मैं तो केवल उनके सृजनात्मक साहित्य, उनकी कहानियों की ही विवेचना करता हुआ यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि किस प्रकार उनकी सृजन-प्रतिभा अविकसित ही रह गई और कलाकार के रूप में वे अपना प्राप्य न पा सके।

गुलेरीजी की कहानियाँ

अभी एक-आध वर्ष पहले तक सबका यही खयाल था कि गुलेरीजी केवल एक ही कहानी 'उसने कहा था' लिखकर अमर हो गए। विद्वानों ने इस बात को पूरे विश्वास के साथ लिखित रूप में भी स्वीकृत कर लिया था। परन्तु कुछ दिन हुए गुलेरीजी की दो और कहानियाँ सामने आईं—'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का काँटा'—और आलोचक की यह उलझन कि गुलेरीजी ने एक साथ ही ऐसी 'ए वन' कहानी कैसे लिख डाली, कुछ-कुछ सुलझी। इस दशा में उन्होंने तीन पग रखे। पहला था 'सुखमय-जीवन', दूसरा 'बुद्धू का काँटा' और तीसरा 'उसने कहा था'। सम्भव है, उन्होंने कुछ और भी प्रयत्न किये हों, जो आज उपलब्ध नहीं।

दृष्टिकोण

जीवन के प्रति गुलेरीजी का दृष्टिकोण, जैसा मैंने आरम्भ में कहा है, सर्वथा स्वस्थ है। उनके साहित्य का आधार छायानुभूतियाँ नहीं हैं, जीवन की मांसल अनुभूतियाँ ही हैं। निदान उनमें मानसिक ग्रन्थियों का सर्वथा अभाव मिलता है। जीवन में नीति और सदाचार को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुए भी वे सैक्स के नाम पर बिदकने वाले आदमियों में से नहीं थे। जहाँ-कहीं भी प्रसंग आया है उन्होंने मुक्त भाव से बिना झिझके

उसकी स्पष्ट व्यंजना की है—यहाँ तक कि 'उसने कहा था' कहानी में उद्धृत पंजाबी के उस गाने में 'कर लेणा नाड़े दा सौदा अड़िये' के स्थान पर भी उन्होंने शरमा कर चिह्न-बिन्दु नहीं लगाये, साफ़ ही पंक्ति को उद्धृत कर दिया है। यह उनके मन के स्वास्थ्य का असंदिग्ध प्रमाण है। एक स्थान पर उन्होंने स्वयं ही इस सत्य का उद्घाटन किया है: "जो कोने में बैठकर उपन्यास पढ़ा करते हैं उनकी अपेक्षा खुले मैदानों में खेलने वालों के विचार अधिक पवित्र होते हैं।" गुलेरीजी प्रकृति के इन सच्चे चित्रों को ही देखते थे, उपन्यासों की मृगतृष्णा में चमत्कार नहीं ढूँढ़ते थे।

उनकी कहानियों में स्पष्ट ही शास्त्र के बँधे हुए वातावरण से प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण की ओर जाने की प्रवृत्ति है। उनके जीवन-मान सर्वथा प्राकृतिक हैं। कृत्रिम मान, चाहे उन पर सभ्यता और नागरिक शिष्टाचार का कितना ही मुलम्मा चढ़ा हो, उन्हें सह्य नहीं थे। दृष्टिकोण का यह स्वास्थ्य रस, विवेक, और विचार—तीनों तत्त्वों के उचित सम्मिश्रण का फल था। उसमें अन्तरभिमुखता और बहिर्मुखता का वांछित संयोग था। जीवन के रस का उन्होंने सम्यक् उपभोग किया परन्तु अपने जागृत विवेक के कारण उसमें बहे नहीं। इससे अनुभूति में स्थिरता आई। उधर, विचार ने उसको गंभीरता और परिपक्वता प्रदान की। जीवन-तत्त्वों का यही सम्यक् संतुलन उनके जीवन और साहित्य की सफलता का कारण था।

सामाजिक चेतना

ऐसे व्यक्ति की सामाजिक चेतना स्वभावतः ही बलवती होनी चाहिए। और वास्तव में हिन्दी-कहानी के उस प्रसवकाल में इस प्रकार की सामाजिक चेतना होना आश्चर्य की बात है। उन्होंने दृष्टि को अपने मन के राग-द्वेषों पर ही न गड़ाकर बाहर जीवन की धूप में विचरने दिया और समाज की सामयिक समस्याओं के प्रति जागरूक रहे। उदाहरण के लिए पर्दे की अस्वस्थ प्रथा, उस समय बढ़ती हुई सभ्यता की दाम्भिक चेतना, विवाह से सम्बद्ध दहेज-मुहूर्त आदि की प्रथाओं पर वे बीच-बीच में छींटे छोड़ते हुए चले हैं।

इसके साथ ही कुछ अन्य सामयिक प्रश्नों पर भी, जैसे हिन्दी में ग्रहण किये गए संस्कृत के तत्सम शब्दों के उच्चारण पर भी, उन्होंने मौक़ा देखकर फ़िकरा कस दिया है। संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् होते हुए भी गुलेरीजी यह

मानते थे कि संस्कृत तत्सम शब्दों का उच्चारण हिन्दी-व्याकरण के नियमों के अनुकूल ही होना चाहिए। आज से तीस वर्ष पूर्व एक संस्कृत के पण्डित की इस प्रकार की धारणाएँ कितनी प्रगतिशील थीं यह देखकर उनके व्यक्तित्व की शक्ति का पता चलता है। इस दृष्टि से यह व्यक्ति अपने समय से कितना आगे था !

हास्य

ऐसे खुले हुए स्वभाव के व्यक्ति में निश्चय ही हास्य की अत्यन्त प्रखर भावना होगी। गुलेरीजी के हृदय में कुढ़न का विष नहीं था, संतोष का अमृत था; इसीलिए उनके हास्य मे भी कुढ़न का विष नहीं, संतोष का अमृत है। उन्होंने स्वस्थ दृष्टि से अपने चारों ओर बहुत गौर से देखा। जीवन और जगत् में सर्वत्र उन्हें ऐसी विचित्रता दिखाई पड़ी जिससे स्वभावतः ही उनके हृदय में गुदगुदी पैदा हो जाती थी। वास्तव में उनका हास्य एक ऐसे व्यक्ति का हास्य है जिसके हृदय में जीवन के प्रत्येक सुख से सहानुभूति है, जो विकृतियों में भी अद्भुत वैचित्र्य और आकर्षण पाता है, जिसके हृदय में किसी प्रकार का दम्भ या मैल नहीं है और जो खुलकर हँसता है। एक उदाहरण लीजिये। अमृतसर के इक्के-ताँगे वालों की बोलियों की तारीफ़ करते हुए आप फ़र्माते है—"क्या मजाल है कि 'जी' और साहब' सुने बिना किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं; चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती है। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं : 'हट जा जीणे जोगिये, हट जा करमा वालिये, हट जा पुत्तॉ प्यारिये, बच जा लम्बी वालिए !' समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी आयु तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है—बच जा!"

दूसरी बात, जो गुलेरीजी के हास्य के विषय मे जानने योग्य है, यह है कि वे हास्य की सृष्टि नहीं करते, उद्बुद्धि-मात्र करते हैं। उनका हास्य साध्य नहीं, साधन है। वे केवल हास्य के लिए परिस्थिति का सृजन नहीं करेंगे वरन् उपस्थित परिस्थिति में ही हास्य की तरंग पैदा कर देंगे। कहीं-कहीं तो गम्भीर परिस्थिति को भी वे हँसी से गुदगुदा देते हैं। 'सुखमय जीवन' के अंत में परि-स्थिति में काफ़ी खिचाव आ गया है, परन्तु ज्यों ही उत्तेजना शान्त होती

है और परिस्थिति में लोच आता है, गुलेरीजी फ़ौरन ही उसे गुदगुदा देते हैं। बेचारे वृद्ध गुलाबराय वर्मा को आँखों में आँसू तो वास्तव में मानसिक स्तब्धता का अंत हो जाने के कारण—दूसरे शब्दों में, क्रोध के सहसा आनन्द मे परिणत हो जाने के कारण—आते हैं, परन्तु प्रश्न यह उठता है कि "वृद्ध की आँखों पर कमला की माता की विजय होने के क्षोभ के आँसू थे या घर बैठे पुत्री को योग्य पात्र मिलने के हर्ष के आँसू थे ? राम जाने !" अच्छा, और यह सन्देह होता है उस व्यक्ति को जो स्वयं ऐसी ही मानसिक स्थिति में होकर गुज़र चुका है ! इस प्रकार गुलेरीजी के पात्र कभी-कभी अपने पर भी हँस लेते हैं।

गुलेरीजी अधिकतर अपने पात्रों पर नहीं हँसते—उनके साथ हँसते हैं। इसलिए उनके हास्य मे विनोद की मात्रा अधिक रहती है। इनकी कहानियाँ विनोद की फुलझड़ियाँ छोड़ती हुई रस-दिशा में बढ़ती हैं। विनोद के अतिरिक्त वाक्-चापल्य और वाक्-चातुर्य का भी सम्यक् उपयोग उनमें मिलता है। लेहनासिंह और नक़ली लेफ्टिनेण्ट साहब की बातचीत उसका सुन्दर उदाहरण है। व्यंग्य का प्रयोग उन्होंने अपेक्षाकृत कम किया है। जहाँ है वहाँ अत्यन्त महीन और मधुर है। किसी गम्भीर नैतिक उद्देश्य से प्रेरित होकर सुधार करने के लिए वे किसी को हास्य द्वारा प्रताड़ित नहीं करते।

रस

इन सब गुणों के होते हुए भी गुलेरीजी की कहानियों का प्रमुख आकर्षण तो रस ही है। यह रस उथली रसिकता या मानसिक विलासिता का तरल द्रव नहीं है, जीवन के गम्भीर और स्वस्थ उपभोग में से खींचा हुआ गाढ़ा रस है। उसमें एक बलिष्ठ व्यक्तित्व का वज़न है। 'बुद्धू का काँटा' की परिणति में काफ़ी रस है। 'उसने कहा था' कहानी का आरम्भ चंचल-मधुर है। पर अंत में तो जैसे सारी ही कहानी रस में डूब जाती है। शैशव की उस मीठी घटना से माधुर्य और लहनासिंह के पुरुषार्थी व्यक्तित्व से शक्ति प्राप्त करके अन्त में उसके बलिदान की करुणा कितनी गम्भीर हो जाती है। आप देखें कि रति, हास, ओज और कारुण्य—इनके मिश्रण से रस का जो परिपाक होता है वह अत्यन्त ही प्रगाढ़ और पुष्ट है, और यह रस-सिंचन घटनाओं और परिस्थितियों में ही नहीं है, वर्णनों में भी स्थान-स्थान पर इसकी रसीली मुस्कराहट मिलती है। उदाहरण के लिए :

१. "आँखों के डेले काले, कोए सफ़ेद नहीं कुछ मटियानीले, और पिघलते हुए। जान पड़ता था कि अभी पिघलकर बह जायँगे। आँखों के चौतरफ़ हँसी, ओठों पर हँसी और सारे शरीर पर नीरोग स्वास्थ्य की हँसी।"

२. "पहाड़ी ज़मीन, बिना पानी सींचे हुए हरे मखमल के गलीचे से ढँकी हुई ज़मीन, उस पर जंगली गुलदाऊदी की पीली टिमकियाँ और बसन्त के फूल, आलू-बुखारे और पहाड़ी करौंदे की रज से भरे हुए छोटे-छोटे रँगीले फूल, जो पेड़ का पत्ता भी न दिखने दें; क्षितिज पर लटके हुए बादलों की-सी बरफ़ीले पहाड़ों की चोटियाँ जिन्हें देखते आँखें अपने-आप बड़ी हो जातीं और जिनकी हवा की साँस लेने से छाती बढ़ती हुई जान पड़ती; नदी से निकाली हुई छोटी-छोटी असख्य नहरें, जो साँप के-से चक्कर खा-खाकर फिर प्रधान नदी की पथरीली तलेटी में जा मिलतीं।"

भाषा

सबसे अधिक आश्चर्यजनक है गुलेरीजी की भाषा। ऐसी प्रौढ़ भाषा उस समय तो कोई लिख ही क्या सकता था, गद्य के समुन्नत युग में भी कोई लिख सका है, इसमें मुझे सन्देह है! प्रेमचन्द की भाषा में इतनी प्रौढ़ता और शक्ति कहाँ हैं, और शुक्लजी की भाषा मे जीवन की इतनी स्फूर्ति और यथार्थता कहाँ हैं ?

आज से तीस-पैंतीस वर्ष पूर्व जब हिन्दी का गद्य व्याकरण की पुस्तकों से बाहर आते ही लड़खड़ाने लगता था, गुलेरीजी को भाषा की लाक्षणिक और व्यंजनात्मक शक्तियों पर कितना व्यापक अधिकार था! उनकी भाषा मे जीवन-गत विभिन्न परिस्थितियों को—विभिन्न पात्रों की विभिन्न मनोदशाओं को—व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता थी। और उन्होंने सदैव ही भाषा के वास्तविक रूप को बनाये रखा है, इसलिए उसका माधुर्य, ओज और प्रसाद स्वाभाविक ही है। उन्होंने कहीं भी न तो माधुर्य लाने के लिए शब्दों की हड्डियाँ तोड़कर उन्हें मुलायम बनाने की कोशिश की है और न ओज के लिए तोलियाँ बाँधकर ही उनको कड़ा और खड़ा करने की कोशिश की है।

इस व्यक्ति के जीवन की सफलता का यही रहस्य था कि इसने अपने पाण्डित्य की गम्भीरता को जीवन के उपभोग मे अत्यन्त सतर्कता से प्रयुक्त किया। इसीलिए इसके व्यक्तित्व मे स्फूर्ति और गम्भीरता का अद्भुत योग था! ठीक यही रहस्य उनकी भाषा की समर्थता का भी है—यहाँ भी उन्होंने

अपनी व्यापक शब्द-शक्ति और भाषागत पाण्डित्य का उपयोग जीवनगत भाषा गढ़ने मे किया। प्राणवान् व्यक्ति में का पाण्डित्य जिस प्रकार जीवनगत अनुभव से शक्ति और उसका जीवनगत अनुभव पाण्डित्य से समृद्धि पाता रहता है इसी प्रकार साहित्य की भाषा जीवन की भाषा से शक्ति और जीवन की भाषा साहित्य की भाषा से समृद्धि पाती रहती है। और किसी व्यक्ति के लिए ये दो स्रोत जितने ही अधिक खुले होंगे उतनी ही समृद्ध और सशक्त उसकी भाषा होगी। गुलेरीजी को यह सुविधा भरपूर प्राप्त थी।

गुलेरीजी के बाद इस विषय का उनसे गुरुतर उदाहरण हमारे पास राहुल का है। परन्तु राहुल मे एक दोष है—उनमे ह्यूमर नहीं। इसीलिए उनकी भाषा मे समृद्धि और शक्ति अधिक होते हुए भी स्फूर्ति और फड़क उतनी नहीं है जितनी कि गुलेरीजी की भाषा में।

टेकनीक

गुलेरीजी के उपर्युक्त गुणों का अब तक जो उल्लेख किया गया है, उससे आप यह मत समझिये कि उनकी सभी कहानियाँ सर्वथा पूर्ण और निर्दोष हैं। यह बात बिलकुल नहीं है। उनकी अन्तिम कहानी 'उसने कहा था' तो अवश्य हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से है, परन्तु पहली दोनों कहानियों मे बहुत-कुछ कच्चापन है। 'सुखमय जीवन' में तो वास्तव मे कहानी अच्छी तरह बन भी नहीं पाई। उसकी चरम घटना में विस्मय का अत्यन्त अस्वाभाविक और अतिरंजित प्रयोग है। 'बुद्धू का काँटा' इससे कहीं अधिक सफल कहानी है, परन्तु उसमें भी अतिरंजना और अप्रासंगिकता है। इसकी नायिका—(शायद यह पारिभाषिक और कृत्रिम नागरिक विशेषण उसके लिए गुलेरीजी स्वीकार न करते)—कुछ अधिक वाग्वीर और पहलवान है। इसके अतिरिक्त उस पहाड़ी टट्टू वाले की सारी कहानी ही अप्रासंगिक है।

परन्तु जैसा कि मैंने आरम्भ में कहा है, ये दोनों कहानियाँ दो पहली मंजिलें हैं। 'सुखमय जीवन' मे गुलेरीजी की कहानी-कला का शैशव है, 'बुद्धू का काँटा' मे किशोरावस्था और 'उसने कहा था' मे आकर वह पूर्ण योषिता हो गई है। चूँकि वह समय से पूर्व ही पूर्णत्व को प्राप्त हो गई थी, इसीलिए शायद उसकी अकाल-मृत्यु हो गई। बहुत होनहार बालक अधिक दिन जीवित नहीं रहते।

६

छायावाद की परिभाषा

आज से बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व, युग की उद्‌बुद्ध चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितियों ने हमारी कर्म-वृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया उन्होंने भाव-वृत्ति को छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।

पिछले महासमर के उपरान्त यूरोप के जीवन में एक निस्सार खोखलापन आ गया था। जीवन के प्रति विश्वास ही नष्ट हो गया था। परन्तु भारत में आर्थिक पराभव के होते हुए भी जीवन में एक स्पन्दन था। भारत की उद्‌बुद्ध चेतना युद्ध के बाद अनेक आशाएँ लगाये बैठी थी। उसमें स्वप्नों की चंचलता थी। वास्तव में भारत की आत्म-चेतना का यह किशोर-काल था जब अनेक इच्छा-अभिलाषाएँ उड़ने के लिए पङ्ख फड़फड़ा रही थीं। भविष्य की रूप-रेखा नहीं बन पाई थी, परन्तु उसके प्रति मन में इच्छा जग गई थी। पश्चिम के स्वच्छन्द विचारों के सम्पर्क से राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों के प्रति असन्तोष की भावना मधुर उभार के साथ उठ रही थी, भले ही उनको तोड़ने का निश्चित विधान अभी मन मे नहीं आ रहा था। राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थीं, और वहाँ से क्षति-पूर्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थीं। आशा के इन स्वप्नों और निराशा के इन छाया-चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई।

छायावाद में आरम्भ से ही जीवन की सामान्य और निकट वास्तविकता के प्रति एक उपेक्षा, एक विमुखता का भाव मिलता है। नवीन चेतना से उद्दीप्त कवि के स्वप्न अपनी अभिव्यक्ति के लिए चंचल हो रहे थे, परन्तु वास्तविक जीवन में उसके लिए कोई सम्भावना नहीं थी। अतएव स्वभावतः

ही उसकी वृत्ति निकट यथार्थ और स्थूल से विमुख होकर सुदूर, रहस्यमय, और सूक्ष्म के प्रति आकृष्ट हो रही थी। भावनाएँ कठोर वर्तमान से कुण्ठित होकर स्वर्ण-अतीत या आदर्श भविष्य में तृप्ति खोजती थीं—ठोस वास्तव से ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्न का संसार रचती थीं—कोलाहल के जीवन से भागकर प्रकृति के चित्रित अंचल में शरण लेती थीं—स्थूल से सहमकर सूक्ष्म की उपासना करती थीं। आज के आलोचक इसे पलायन कहकर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव को वायवी या अतीन्द्रिय रूप देना ही है, जो मूल रूप में मानसिक कुण्ठाओं पर आश्रित होते हुए भी प्रत्यक्ष में पलायन का रूप नहीं है। वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की यह प्रवृत्ति ही छायावाद की मूल वृत्ति है। उसकी सभी अन्य प्रवृत्तियों की इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की जा सकती है।

व्यक्तिवाद

यह अन्तर्मुखी प्रवृत्ति जिन विभिन्न रूपों में व्यक्त हाती है उनमें सबसे मुख्य है व्यक्तिवाद। व्यक्तिवाद के दो रूप हैं। एक, विषय पर विषयी की मनसा का आरोप अथवा वस्तु को व्यक्तिगत भावनाओं में रँगकर देखना। दूसरा, समष्टि से निरपेक्ष होकर व्यष्टि में ही लीन रहना।

द्विवेदी युग की कविता इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत थी। उसकी प्रतिक्रिया में छायावाद की कविता भावात्मक एवं आत्मगत हुई। दूसरे, उस कविता का विषय बहिरङ्ग सामाजिक जीवन था : द्विवेदी युग का कवि बहिर्मुख होकर कविता लिखता था। छायावाद की कविता का विषय अन्तरङ्ग व्यक्तिगत जीवन हुआ : छायावाद का कवि आत्मलीन होकर कविता लिखने लगा। उसका यही व्यक्तिभाव प्रसाद में आनन्द भाव, निराला में अद्वैतवाद, पन्त मे आत्म-रति और महादेवी में परोक्ष रति के रूप में प्रकट हुआ।

शृङ्गारिकता

अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की दूसरी अभिव्यक्ति है शृङ्गारिकता। छायावाद की कविता प्रधानतः शृङ्गारिक है, क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुण्ठाओं से, और व्यक्तिगत कुण्ठाएँ प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। जिस समय छायावाद का जन्म हुआ उस समय स्वच्छन्द विचारों के आदान से स्वतन्त्र

प्रेम के प्रति समाज म आकर्षण बढ़ रहा था, परन्तु सुधार-युग की कठोर नैतिकता से सहमकर वह अपने मे ही कुण्ठित रह जाता था। समाज के चेतन मन पर नैतिक आतङ्क अभी इतना अधिक था कि इस प्रकार की स्वच्छन्द भावनाएँ अभिव्यक्ति नहीं पा सकती थीं। निदान वे अवचेतन मे उतरकर वहाँ से अप्रत्यक्ष रूप मे व्यक्त होती रहती थीं। और यह अप्रत्यक्ष रूप था नारी का अशरीरी सौन्दर्य अथवा अतीन्द्रिय शृङ्गार। छायावाद का यह अतीन्द्रिय शृङ्गार दो प्रकार से व्यक्त होता है। एक तो प्रकृति के प्रतीकों द्वारा: प्रकृति पर नारी-भाव के आरोप द्वारा। दूसरे नारी के अतीन्द्रिय सौन्दर्य द्वारा अर्थात् उसके मन और आत्मा के सौन्दर्य को प्रधानता देते हुए उसके शरीर के अमांसल चित्रण द्वारा।

छायावाद में शृङ्गार के प्रति उपभोग का भाव न मिलकर, विस्मय का भाव मिलता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोमय है। छायावाद का कवि प्रेम को शरीर की भूख न समझकर एक रहस्यमयी चेतना समझता है। नारी के अङ्गों के प्रति उसका आकर्षण नैतिक आतङ्क से सहमकर जैसे एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत हो गया है। इसी कौतूहल में छायावाद के कवि और नारी के व्यक्तित्व के बीच अनेक रेशमी झिलमिल पर्दे डाल दिए हैं, और वास्तव में छायावाद के झिलमिल काव्य-चित्रों का मूल उद्गम ये ही झिलमिल पर्दे है। उसके वायवी रूप-रङ्ग का वैभव इन्हीं से उत्कीर्ण होता है और इन्हीं पर आश्रित होन क कारण छायावाद की काव्य-सामग्री के अधिकांश प्रतीक काम-प्रतीक है।

प्रकृति पर चेतना का आरोप

छायावाद में प्रकृति के चित्रों की प्रचुरता है। कुछ विद्वानों की तो यह धारणा है कि छायावाद का प्राण-तत्त्व ही प्रकृति का मानवीकरण अर्थात् प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप है। यह सत्य है कि छायावाद में प्रकृति को निर्जीव चित्राधार अथवा उद्दीपक वातावरण न मानकर ऐसी चेतन सत्ता माना गया है जो अनादि काल से मानव के साथ स्पन्दनों का आदान-प्रदान करती रही है। परन्तु फिर भी प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप छायावाद की मूल प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि स्पष्टतः छायावाद प्रकृति-काव्य नहीं है; और इसका प्रमाण यह है कि छायावाद मे प्रकृति का चित्रण नहीं है वरन् प्रकृति के स्पर्श से मन में जो छाया-चित्र उठें उनका चित्रण है जो प्रवृत्ति प्रकृति पर

मानव-व्यक्तित्व का आरोपण करती है वह कोई विशेष प्रवृत्ति नहीं है; वह मन की कुण्ठित वासना ही है जो अवचेतन में पहुँचकर सूक्ष्म रूप धारण करके प्राकृतिक प्रतीकों के द्वारा अपने को व्यक्त करती है। निदान प्रकृति का उपयोग यहाँ दो रूपों में हुआ है। एक कोलाहलमय जीवन से दूर शान्त-स्निग्ध विश्राम-भूमि के रूप में और दूसरे प्रतीक रूप में। रूप, ऐश्वर्य और स्वच्छन्दता जो जीवन में नहीं मिल सके वह प्रकृति में प्रचुर मात्रा में मिले, अतएव कवि की मनोकामनाएँ बार-बार उसी के मधुर अंचल में खेलने लगीं और प्रकृति के प्रति आकर्षण बढ़ जाने से स्वभावतः उसी के प्रतीक भी अधिक रुचिकर और प्रेय हुए।

मूल दर्शन

जैसा कि सुश्री महादेवी वर्मा ने कहा है, छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद है—प्रकृति के अन्तर में प्राण-चेतना की भावना करना सर्वात्मवाद की ही स्वीकृति है। उन्होंने वैदिक ऋचाओं से समानान्तर उद्धरण देकर यह स्थापित किया है कि प्रकृति में स्पन्दित जीवन-चेतना की पहचान भारतीय कवि के लिए नवीन न होकर अत्यन्त प्राचीन है—सनातन से चली आ रही है। छायावाद में समस्त जड़-चेतन को मानव-चेतना से स्पन्दित मानकर अंकित किया गया है, और इस भावना को यदि कोई दार्शनिक रूप दिया जायगा तो वह निश्चय ही सर्वात्मवाद होगा। परन्तु क्रम का भेद है। छायावाद का कवि आरम्भ से ही सर्वात्मवाद की अनुभूति से प्रेरित नहीं हुआ है। उसकी प्रेरणा उसकी कुण्ठित वासनाओं में से ही आई है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नहीं, यह निर्विवाद है। इसे न मानना प्रत्यक्ष का निषेध करना है। और इसका प्रमाण यह है कि 'पल्लव', 'नीहार', 'परिमल', 'आँसू' आदि की मूलवर्ती वासना अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म तो अवश्य है परन्तु सर्वथा उदात्त और आध्यात्मिक नहीं है।

आज के बुद्धिजीवी कवि के लिए वासना को सूक्ष्मतर करना तो साधारणतः सम्भव है, परन्तु आध्यात्मिक अनुभूति का होना उसके लिए सहज सम्भव नहीं है; और यह स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि गत युद्ध के बाद जिन कवियों के हृदय से छायावाद की कविता उद्भूत हुई उन पर किसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति का आरोप नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त उस अवस्था में तो कोई विशेष परिष्कृति भी

सम्भव नहीं थी। वह उन कवियों का तारुण्य था जब मन की सहज भावनाएँ अभिव्यक्ति के लिए आकुल हो रही थीं। बाद में प्रसाद या महादेवी भारतीय अध्यात्म-दर्शन के सहारे, अथवा पन्त देश-विदेश के भौतिक सर्वहितवादी दर्शनों के आधार पर, उसे परिशुद्ध एवं संस्कृत भले ही कर पाए हों, परन्तु आरम्भ से कोई दिव्य प्रेरणा उन्हें थी, यह मानना असत्य होगा।

अतएव प्रकृति पर मानवता का आरोप कम-से-कम आरम्भ में तो निश्चय ही अनुभूति का तत्त्व न होकर अभिव्यक्ति का प्रकार था। शृङ्गार और स्वच्छन्दता की भावनाएँ, जिन्हें परिस्थिति के अनुरोध से प्रकृत रूप में अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं था, प्रकृति के रूपकों से अन्योक्ति आदि के द्वारा व्यक्त होती थीं। बस, इसके अतिरिक्त उपर्युक्त प्रवृत्ति की कोई भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं। सर्वात्मवाद का बुद्धि द्वारा ग्रहण तो सहज सम्भव है परन्तु उसकी अनुभूति के लिए उस समय छायावाद के किसी भी कवि को चैलेंज किया जा सकता था। उस समय स्वच्छन्द छायानुभूतियों से छायावाद का निर्माण हो रहा था, जो एक विशिष्ट परिस्थिति में विशिष्ट संस्कार के कवियों की जीवन के प्रति सहज प्रतिक्रिया थी, प्रगतिवाद की तरह किसी ठोस वज़नी बौद्धिक जीवन-दर्शन से मन को टकरा-टकरा कर प्रेरणा नहीं ली जा रही थी।

यही बात रहस्यानुभूति के विषय में कही जा सकती है। बहिरङ्ग-जीवन से सिमटकर जब कवि की चेतना ने अन्तरङ्ग में प्रवेश किया तो कुछ बौद्धिक जिज्ञासाएँ—जीवन और मरण-सम्बन्धी, प्रकृति और पुरुष-सम्बन्धी, आत्मा और विश्वात्मा-सम्बन्धी—काव्य में आ जाना सम्भव ही था; और वे आईं। कुछ आध्यात्मिक क्षण तो प्रत्येक भावुक के जीवन में आते ही हैं। अतएव छायावाद की रहस्योक्तियाँ एक प्रकार से जिज्ञासाएँ ही हैं। वे धार्मिक साधना पर आश्रित न होकर कहीं भावना, कहीं चिंतन और कहीं केवल मन की छलना पर ही आश्रित हैं।

छायावाद के ये ही मूल तन्तु हैं। इन्हीं में अभिन्न रूप से गुँथा हुआ आपको विषाद का नीला तन्तु भी मिलेगा जो असन्तोष और कुण्ठा का परिणाम है। परन्तु यह विषाद सन्ध्या की कालिमा न होकर प्रत्यूष की चित्रित नीहारिका है। इसमें घुमड़न है, पराजय नहीं। 'नीरजा' के विषाद और 'निशा-निमन्त्रण' के विषाद की तुलना मेरे आशय को स्पष्ट कर देगी। इसका कारण यह है कि

छायावाद की दुनिया अननुभूत दुनिया थी। बच्चन के समय तक आकर वह अधिक जीवन-गत (अनुभूत) हो चुकी थी। अतः छायावाद की निराशा भी अनुभूत होने के कारण श्रान्त और जर्जर नहीं हो गई थी; वह स्पन्दित और स्फूर्त थी। छायावाद के चिर-उपहसित पीड़ा-प्रेम का यही व्याख्यान है।

भ्रान्तियाँ

छायावाद के विषय में तीन प्रकार की भ्रान्तियाँ हैं—

पहला भ्रम उन लोगों ने फैलाया है जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर नहीं कर पाते। आरम्भ में छायावाद का यही दुर्भाग्य रहा। उस समय के आलोचक इसी भ्रम का पोषण करते हुए उसे कोसते रहे। यद्यपि आज यह भ्रम प्रायः निर्मूल हो गया है तो भी छायावाद के कतिपय कवि और समर्थक छायावाद के सुकुमार शरीर पर से आध्यात्मिक चिंतन का मृग-चर्म उतारने को तैयार नहीं हैं। रामकुमारजी आज भी कबीर के योग की शब्दावली में अपने काव्य का व्याख्यान करते हैं। महादेवीजी की कविता के उपासक अब भी प्रकृति और पुरुष के रूपकों में उलझे बिना उसका महत्त्व समझने में असमर्थ हैं। यहाँ तक कि स्वयं महादेवीजी ने भी छायावाद के ऊपर सर्वात्मवाद का भारी बोझ लाद दिया है।

इसके विरोध मे, जैसा मैंने अभी कहा, एक प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि छायावाद एक बौद्धिक युग की सृष्टि है। उसका जन्म साधना से—यहाँ तक कि अखण्ड आध्यात्मिक विश्वास से भी—नहीं हुआ। अतएव उसके रूपकों और प्रतीकों को यथा-तथ्य मानकर उस पर रहस्य-साधना अथवा रहस्यानुभूति का आरोप करना अनर्थ करना है, भ्रांतियों का पोषण करना है।

दूसरी भ्रान्ति उन आलोचकों की फैलाई हुई है जो मूल-वर्तिनी विशिष्ट परिस्थितियों का अध्ययन न कर सकने के कारण—और उन अपराधियों में मैं भी हूँ—केवल बाह्य साम्य के आधार पर छायावाद को यूरोप के रोमांटिक काव्य-सम्प्रदाय से अभिन्न मानकर चले हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है, और दोनों की परिस्थितियों में भी जागरण और कुण्ठा का मिश्रण है। परन्तु फिर भी यह कैसे भूला जा सकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सृष्टि है। जहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था वहाँ रोमांटिक

काव्य के पीछे फ्रांस का सफल विद्रोह था, जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जागृत देशों में एक नवीन आत्म-विश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फल-स्वरूप वहाँ के रोमानी काव्य का आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था; उसकी दुनिया अधिक मूर्त थी, उसकी आशा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे, उसकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अन्तर्मुखी एवं वायवी था।

तीसरे भ्रम को जन्म दिया है आचार्य शुक्ल ने, जो छायावाद को शैली का एक तत्त्व-मात्र मानते थे। उनका मत है कि विदेश के अभिव्यञ्जनावाद, प्रतीकवाद आदि की भाँति छायावाद शैली का एक प्रकार-मात्र है।

इस भ्रम का कारण है शुक्लजी की वस्तु-परक दृष्टि, जो वस्तु और अभिव्यंजना में निश्चित अन्तर मानकर चलती थी। वास्तव में उन दो-चार इने-गिने सम्प्रदायों को छोड़कर, जो जान-बूझकर शैली-गत प्रयोगों को लेकर चले हैं, कोई भी काव्य-धारा केवल अभिव्यंजना का प्रकार नहीं हो सकती। जिन अभिव्यंजना और प्रतीकवाद का उन्होंने उल्लेख किया है वे भी शुद्ध टेकनीक के प्रयोग नहीं हैं: उनके पीछे भी एक विशिष्ट अनुकूल भाव-धारा और विचार-धारा है। प्रत्येक सच्ची काव्य-धारा के लिए अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा अनिवार्य है और जहाँ अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा है वहाँ काव्य टेकनीक-मात्र का प्रयोग कैसे हो सकता है? छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है। उसके पीछे अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा असंदिग्ध है। उसकी अभिव्यक्ति की विशेषता भाव-पद्धति की विशिष्टता के ही कारण है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है: जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है। जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवन के प्रति एक प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण था और रीति-काव्य एक-दूसरे प्रकार का, उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।

इस दृष्टिकोण का आधेय नव-जीवन के स्वप्नों और कुण्ठाओं के सम्मिश्रण से बना है, प्रवृत्ति अन्तर्मुखी तथा वायवी है और अभिव्यक्ति है प्रायः प्रकृति के प्रतीकों द्वारा। विचार-पद्धति उसकी तत्त्वतः सर्वात्मवाद मानी जा सकती है। पर वहाँ से इसे सीधी प्रेरणा नहीं मिली।

यह तो स्पष्ट ही है कि छायावाद का काव्य प्रथम श्रेणी का विश्व-काव्य नहीं है—कुण्ठा की प्रेरणा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नहीं दे सकती। प्रथम श्रेणी के काव्य की सृष्टि तो पारदर्शी कवि के द्वारा ही सम्भव है, जिसके लिए यह जीवन और जगत् अनुभूत हों और जो सत्य को प्राप्त कर चुका हो। परन्तु यह सौभाग्य संसार में कितनों को प्राप्त है ? इसके अतिरिक्त, संसार का अधिकांश काव्य कुण्ठा-जात ही तो है। उसकी तीव्रता और वैभव-विलास का जन्म प्रायः कुण्ठा से ही तो होता है।

इस सीमा को स्वीकार कर लेने के उपरान्त छायावाद को अधिक-से-अधिक गौरव दिया जा सकता है। और सच ही, जिस कविता ने एक नवीन सौन्दर्य-चेतना जगाकर एक वृहत् समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया; जिसने उसकी वस्तु-मात्र पर अटक जाने वाली दृष्टि पर धार रखकर उसको इतना नुकीला बना दिया कि हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश करके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और तरल-से-तरल भाव-वीचियों को पकड़ सके; जिसने जीवन की कुण्ठाओं को अनन्त रङ्ग वाले स्वप्नों में गुदगुदा दिया, जिसने भाषा को नवीन हाव-भाव, नवीन अश्रु-हास और नवीन विभ्रम-कटाक्ष प्रदान किये; जिसने हमारी कला को असंख्य अनमोल छाया-चित्रों से जगमग कर दिया; और अन्त में जिसने 'कामायनी' का समृद्ध रूपक, 'पल्लव' और 'युगान्त' की कला, 'नीरजा' के अश्रु-गीले गीत, 'परिमल' और 'अनामिका' की अम्बर-चुम्बी उड़ान दी—उस कविता का गौरव अक्षय है ! उसकी समृद्धि की समता हिन्दी का केवल भक्ति-काव्य ही कर सकता है।

१०

प्रगतिवाद और हिन्दी-साहित्य

प्रगति का साधारण अर्थ है आगे बढ़ना। जो साहित्य जीवन को आगे बढ़ाने में सहायक हो वही प्रगतिशील साहित्य है। इस दृष्टि से विचार करेंगे तो तुलसीदास सबसे बड़े प्रगतिशील लेखक प्रमाणित होते हैं। भारतेन्दु बाबू और द्विवेदी-युग के लेखक, मुख्यतः मैथिलीशरण गुप्त, भी प्रगतिशील लेखक हैं। परन्तु आज का प्रगतिवादी इनमें से किसी को भी प्रगतिशील नहीं मानेगा—ये सभी तो उसके अनुसार प्रतिक्रियावादी लेखक हैं। अतः प्रगति का अर्थ आगे बढ़ना अवश्य है, परन्तु एक विशेष ढङ्ग से, एक विशेष दिशा में। उसकी एक विशिष्ट परिभाषा है। इस परिभाषा का आधार है—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद क्या है, पहले इसे समझ लें।

इसमें दो शब्द हैं : भौतिकवाद और द्वन्द्वात्मक। भौतिकवाद का सार यह है कि संसार का मूलाधार—पञ्चभूत है—पञ्चभूत, अर्थात् पदार्थ : मैटर। उसके सभी दृश्य, सभी सूक्ष्म-स्थूल रूप पदार्थ से ही बने हुए हैं। शरीर की परिचालिका शक्ति मस्तिष्क है और मस्तिष्क भी शरीर की अन्य इन्द्रियों की भाँति भौतिक ही है। बाह्य जगत् की घटनाओं की हमारी इन्द्रियों पर प्रतिक्रिया होती है और इस प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप एक कम्पन होता है। शरीर का वह सूक्ष्मतम और सबसे अधिक विकसित अवयव, जो इस कल्पना का अनुभव और समन्वय करता है, मस्तिष्क कहलाता है। आत्मा कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है, अधिक-से-अधिक उसे मस्तिष्क के आगे की एक विकसित अवस्था-मात्र माना जा सकता है। अर्थात् वह भी, अगर है तो, पदार्थ की ही उद्भूति है। परन्तु यह पदार्थ क्रियाहीन या गतिहीन नहीं स्वभाव से ही गतिशील है और इसमें गति पैदा करने के लिए ब्रह्म के ईक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती; वह तो पदार्थ के अन्तर्गत वर्तमान विरोधी तत्वों के सतत संघर्ष का सहज परिणाम है। जिस प्रकार जगत् को उन्नत करने के लिए किसी आधिदैविक शक्ति की आवश्यकता नहीं, उसी प्रकार उसके संरक्षण और विनाश के लिए भी नहीं। क्योंकि जो पदार्थ अपनी परस्पर-विरोधी शक्तियों के संघर्ष के

परिणाम-स्वरूप स्वयं गतिशील है उसमें स्वस्थ रूप का उद्भव और अस्वस्थ रूप का लय आप-से-आप होता रहता है।

इसलिए विश्व में केवल एक ही सत्ता है—आधिभौतिक! आध्यात्मिक और आधिदैविक सत्ताएँ मन की छलना-मात्र हैं। "संसार किसी ईश्वर या मनुष्य की सृष्टि नहीं, वह गतिशील पदार्थ की एक ऐसी जीवित अग्नि-शिखा है जो अंशतः ऊर्ध्व-विकास और अंशतः अधःपतन की ओर उन्मुख है।"

बस, गति की प्रेरक इन्हीं परस्पर-विरोधी शक्तियों के, जो स्वयं वस्तु में वर्तमान रहती हैं, संघर्ष या द्वन्द्व का अध्ययन करते हुए जीवन-विकास का अध्ययन करना ही द्वन्द्वात्मक प्रणाली है। और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दर्शन है जो जीवन को ऐसी प्रगतिशील भौतिक वास्तविकता मानता है जिसके मूल में विरोधी शक्तियों का संघर्ष चल रहा है! इन विरोधी शक्तियों में निश्चय ही एक विनाश के पथ पर होगी, दूसरी उत्थान के पथ पर। चैतन्य मस्तिष्क का कार्य यही है कि इस तथ्य को ढूँढ निकाले और प्रगतिशील शक्तियों को सहायता दे और विनाशोन्मुख शक्तियों का, जो अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए व्यर्थ ही छटपटाकर विकास या प्रगति में बाधा डालती हैं, बलपूर्वक नाश करे।

इस प्रकार, जगत् का एक-मात्र सत्य भौतिक जीवन ही है। उसी का स्वस्थ उपभोग हमारा ध्येय है, अन्य किसी भी काल्पनिक सुख की खोज में भटकना पलायन है। और इस भौतिक जीवन की प्रमुख संस्था है समाज, जिसका आधार है अर्थ। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में प्रगतिवादी केवल अर्थ का ही अस्तित्व स्वीकार करता है। काम को वह अर्थ के आश्रित मानता है और धर्म को भी भौतिक अर्थ में जीवन की विधि-मात्र मानते हुए अर्थ के ही आश्रित मानता है। मोक्ष को आध्यात्मिक अर्थ में वह एकदम अस्वीकृत कर देता है।

आज के समाज में दो विरोधी शक्तियाँ हैं: पूँजीवाद और समाजवाद। पूँजीवाद, जिसका साम्राज्यवाद भी एक अंग है, विनाशोन्मुख है; और समाजवाद विकासोन्मुख। निदान प्रगतिवादी समाजवाद का पोषक है और पूँजीवाद का शत्रु। बल्कि यों कहिये कि प्रगतिवाद समाजवाद की ही साहित्यिक अभिव्यक्ति है। साहित्य सामाजिक कर्म-विधान का एक सक्रिय अङ्ग है। अतएव उसे समाज-व्यवस्था के संरक्षण में वांछित सहयोग देना चाहिए! हमारे समाज

की जागृत शक्तियाँ वे लोग हैं जो अब तक दलित और शोषित रहे हैं। प्रगति-वादी साहित्य उनकी सहायता करता है, उनके पक्ष मे आन्दोलन करता है, उनकी शक्ति को संगठित करता है, उनकी पीड़ा को मुखर करता है और उन पर होने वाले अत्याचार का तीव्र विरोध करता है। इस प्रकार उसके अन्तर्गत मानववाद, क्रांति और विशेष पस्थितियों में—जैसे पराधीनता में अथवा बाहर से हमला होने पर—देश-भक्ति भी आ जाती है, यद्यपि इनमें से कोई भी उस का अनिवार्य तत्त्व नहीं है।

समाजवाद से सहज सम्बन्ध होने के कारण प्रगतिवादी साहित्य को मुख्यतः सामाजिक या सामूहिक चेतना मानता है, वैयक्तिक नहीं। जिस प्रकार समाजवाद समष्टि या समूह के हितों की चिंता और रक्षा करता है, व्यक्ति के नहीं, उसी प्रकार प्रगतिशील साहित्य समाज के सुख-दुःख का अभिव्यक्ति को ही महत्त्व देता है, व्यक्ति के सुख-दुःख की अभिव्यक्ति को नहीं। अर्थात् प्रगति-शील लेखक की भावना सामाजिक भावना है, व्यक्तिगत नहीं। वह सौंदर्य को अपने हृदय या दूसरे की आँखों में देखने की अपेक्षा सामाजिक स्वास्थ्य में देखता है। अपनी ही समस्याओं और भावनाओं में उलझे रहना—व्यक्ति को समष्टि से पृथक् देखने का प्रयत्न—मिथ्या है; और साथ ही एक रुग्ण या विकृत मनोवृत्ति का परिचायक है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य अहं का सामाजीकरण है।

इस प्रकार, दृष्टिकोण बदल जाने से आदर्श और मूल्यों का भी बदल जाना अनिवार्य है। गत युग में जो सत्य-शिव-सुन्दर था वह आज विपरीत अर्थ रखता है। अब तो हमारे मूल्यों का माप केवल एक ही है—जन-हित। आज सत्य से तात्पर्य है भौतिक वास्तविकता का, शिव का अर्थ है भौतिक जीवन—सामाजिक स्वास्थ्य—मे सहायक होने वाला, और सुन्दर का आशय है स्वाभा-विक एवं प्रकृत। पहले प्रकृत भावनाओं का संयम, दमन और गोपन ही उनका परिष्कार और संस्कार माना जाता था, परन्तु आज इस प्रकार का दमन और गोपन अनावश्यक ही नहीं हानिकारक भी समझा जाता है। फ्रॉयड ने दमन और गोपन का पर्दा फाड़कर, उसकी तह में छिपी हुई कुत्साओं का प्रदर्शन किया है। अतएव प्रगतिवादी स्वस्थ मानव-प्रवृत्तियों को—जिनमें मुख्य क्षुधा और काम है—प्राकृत रूप में व्यक्त करने से नहीं घबराता :

धिक् रे मनुष्य तुम स्वस्थ शुद्ध निश्चल चुम्बन
अङ्कित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर !
क्या गुह्य क्षुद्र ही बना रहेगा बुद्धिमान,
नर-नारी का यह सुन्दर स्वर्गिक आकर्षण !!

विचार के साथ अभिव्यंजना भी बदली । सबसे पहले तो कला का दृष्टिकोण ही बदल गया :

"ललित कला कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण ।"

अब तक काव्य के आलम्बनों में जिस प्रकार प्राकृत, कुत्सित एवं लघु का तिरस्कार और सुन्दर, मनोरम एवं महत् का ही ग्रहण होता था, उसी प्रकार अभिव्यक्ति के उपकरणों में भी । प्रगतिवाद ने कहा कि यह अन्तर काल्पनिक है । जीवन में सब-कुछ केवल सूक्ष्म, सुगढ़ और कोमल ही नहीं है; उसमें स्थूल, दृढ़ और अनगढ़ भी है और जो शायद अधिक उपयोगी है । स्वस्थ जीवन-दर्शन वही है जो उसकी वास्तविकता को स्वीकार करे—जीवन को उसके सम्पूर्ण रूप में ग्रहण करे । रूप-मोह या मानसिक विलास में पड़कर जीवन के उन स्वस्थ उपादानों का, जिनका बाह्य प्राकृत और अनगढ़ है, तिरस्कार करना क्षयी मस्तिष्क का काम है ।

इसलिए प्रगतिवादी ने अपनी अभिव्यक्ति के उपकरण आग्रहपूर्वक साधारण स्वस्थ जन-जीवन से ग्रहण करना आरम्भ किया । वह अपने काव्य-चित्रों का आधार नित्य-प्रति के व्यवहार को बनाता है । उसकी अलंकरण-सामग्री सूक्ष्म, कोमल या चुनी हुई नहीं है, वह स्थूल और प्राकृत है । एक शब्द में, उसकी कला विलास, रूप-रङ्ग, और रोमांस से प्रेम नहीं करती । इसी तरह प्रगतिवाद की शब्द-योजना में भी प्रकृत जन-जीवन का अनगढ़पन मिलता है, रीति-काल की पालिश और छायावाद की अमूर्त मधुचर्या नहीं । अतएव प्रगति-वादी अभिव्यक्ति खरी, खड़ी और तीखी होती है—क्योंकि वह मुख्यतः भावात्मक न होकर आलोचनात्मक है ।

सारांश यह है कि प्रगतिवाद जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का नाम है, जिसके मूल तत्त्व ये हैं —

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—केवल आर्थिक विधान की मान्यता, ईश्वर और आत्मा की सत्ता की अस्वीकृति ।

समाजवाद (जिसके मूल में मानववाद भी अन्तर्निहित है)—समाजवाद का समर्थन; पूँजीवाद और उससे सम्बद्ध राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और साहित्यिक रूढ़ियों के विरुद्ध क्रान्ति।

राष्ट्रीय भावना—यह केवल भारत-जैसे पराधीन देश में—अथवा बाह्य आक्रमण होने पर अन्य देशों में भी—अधिक सुव्यक्त होती है। वैसे समाजवाद की तरह प्रगतिवाद का भी यह अनिवार्य तत्त्व नहीं है।

प्रगतिवाद को प्रभावित करने वाली शक्ति मुख्यतः कार्ल मार्क्स है, और किन्हीं अंशों में डारविन और फ्रॉयड भी। और, इसकी अभिव्यक्ति भावात्मक की अपेक्षा बौद्धिक अर्थात् आलोचनात्मक अधिक है।

यह हुआ प्रगतिवाद का तात्त्विक विश्लेषण। परन्तु इसके ये सभी सिद्धान्त निर्विवाद स्वीकार नहीं किये जा सकते—उन पर कुछ मूलगत आक्षेप सरलता से हो सकते हैं।

पहला आक्षेप तो यही है कि प्रगतिवादी जीवन-दर्शन संकुचित है: जीवन की केवल आर्थिक व्याख्या संगत नहीं। इस विषय में सीधी युक्तियों की अपेक्षा एक निषेधात्मक युक्ति अधिक सफल होगी। मार्क्सवादियों ने मानव-इतिहास की जो आर्थिक व्याख्या की है वह अधूरी और अनेक स्थानों पर असंगत एवं अविश्वसनीय है। उदाहरण में कॉडवेल की 'इल्यूज़न एण्ड रियलिटी' पुस्तक के उस सुन्दर एवं महत्त्वपूर्ण परिच्छेद की ओर संकेत किया जा सकता है जिसमें वे अंग्रेज़ी-साहित्य के इतिहास का विवेचन करते हुए केवल उन्हीं मोटी-मोटी बातों को ले सके हैं जो उनका प्रयोजन सिद्ध करती हैं। अंग्रेज़ी-साहित्य की अनेक सूक्ष्म और उलझी हुई प्रवृत्तियों को उन्होंने बिलकुल छोड़ दिया है। मेरी अपनी बौद्धिक सीमाएँ हो सकती हैं, परन्तु मुझे यह सचमुच हास्यास्पद लगता है कि जहाँ फ्रॉयड-जैसे अतलदर्शी मनोवैज्ञानिक मानव-मन की परीक्षा करते हुए अन्त में 'नेति-नेति' कह देते हैं वहाँ मार्क्स का साधारण अनुयायी भी सिर्फ पैदावार की बातचीत करता हुआ उसके अन्तिम सत्यों तक झट से पहुँच जाता है। यह विश्वास और उत्साह स्तुत्य होने पर भी बुद्धि-संगत नहीं है।

दूसरा आक्षेप यह है कि साहित्य अपने मूल रूप में सामाजिक या सामूहिक चेतना नहीं, वह तो वैयक्तिक चेतना ही हो सकती है। मनुष्य पहले व्यक्ति

है पीछे समाज की इकाई; और उसका पहला रूप ही मौलिक रूप है। अतएव साहित्य अपने वास्तविक रूप में जीवन के प्रति व्यक्ति की अथवा अनात्म के प्रति आत्म की प्रतिक्रिया ही है, अर्थात् साहित्य वस्तुतः आत्माभिव्यक्ति है। हमारे आत्म या व्यक्ति की दो प्रवृत्तियाँ हैं : अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति बहिरंग को अपने अन्दर खींचती हुई गहरी अथवा घनीभूत होती रहती है; बहिर्मुखी वृत्ति अन्तरङ्ग का बाहर प्रसार करती हुई व्यापक होती रहती है। मनुष्य में संस्कार और परिस्थितिवश इनमें से एक का प्राधान्य हो जाता है। साहित्य की सृजन-प्रक्रिया से स्पष्ट है कि वह जीवन की भावगत व्याख्या है। वह जीवन की अन्तर्मुखी साधना है। अतः स्वभाव से ही साहित्यकार में अन्तर्मुखी वृत्ति का ही प्राधान्य होता है। वह जितना महान् होगा उसका अहं उतना ही तीखा और बलिष्ठ होगा जिसका पूर्णतः सामाजीकरण असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा। संसार में ऐसा महान् साहित्यकार विरला ही होगा जिसने किसी अपरागत उद्देश्य से पूर्णतया तादात्म्य स्थापित कर लिया हो। गोर्की, इक़बाल, मिल्टन आदि के व्यक्तित्व का विश्लेषण असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर देगा कि उनके भी साहित्य में जो महान् है वह उनके दुर्दमनीय अहं का ही विस्फोट है, साम्यवाद, इस्लाम या प्यूरिटन मत की अभिव्यक्ति नहीं। महान् साहित्य असाधारण प्रतिभा के असाधारण क्षणों की सृष्टि है। और यह असाधारण प्रतिभा समाज या समूह से, जिसका कि अधिकांश साधारण प्रतिभा और शक्ति वाले लोगों से बना हुआ है, सहानुभूति रखती हुई भी—और यह भी सर्वथा अनिवार्य नहीं—अपनी चेतना को उसमें लय नहीं कर सकती। उसकी अपनी चेतना समाज से बहुत-कुछ ग्रहण करती हुई भी सृजन के अर्ध-चेतन क्षणों में वनस्पति से ढकी हुई चिनगारी की तरह प्रज्वलित हो उठेगी।

वास्तव में अपने मूल रूप में जीवन का एक दृष्टिकोण होते हुए भी व्यावहारिक रूप में प्रगतिवाद एक विशेष राजनीतिक विचार-धारा का ही उच्चार है जो बलपूर्वक साहित्य द्वारा अपनी प्रत्यक्षाभिव्यक्ति चाहता है। इसलिए उसमें प्रायः वही सामयिक उत्साह और प्रचार-भावना मिलती है जो साम्प्रदायिक लोगों में सर्वत्र पाई जाती है। अतः जहाँ तक ये लोग अपनी बात कहते हैं हम उसे आवश्यक काट-छाँट के बाद आसानी से ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु जब अपनी उस अन्तिम मार्क्सवादी कसौटी पर ये लोग अपर साहित्य को

ही कट्टर समाजवादी दोनों के अन्तरतम में कुछ तार ऐसे हैं जो एक सामान्य अनुभूति से झंकृत होकर बाह्य भेदों की अवहेलना करते हुए बरबस मिल जाते हैं। यह सामान्य अनुभूति है मानववाद; जिसका दार्शनिक नामकरण चाहे कभी हुआ हो पर जो अपने मूल रूप में प्रेम का एक प्रस्फुटन होने के कारण अनादि काल से चला आ रहा है। हममें से अधिकांश के हृदय को समाजवाद का विज्ञान स्पर्श नहीं करता—उसकी मूलवर्तिनी मानव-कल्याण या पारस्परिक सहानुभूति की भावना ही स्पर्श करती है।

सारांश यह है कि साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी जो अब तक चली आई है वही ठीक है—अर्थात् आनन्द! साहित्य की सृजन-क्रिया स्वयं साहित्यकार को आनन्द देती है और उसके व्यक्त रूप का ग्रहण पाठक या श्रोता को आनन्द देता है। हमें जो साहित्य जितना ही गहरा और स्थायी आनन्द दे सकेगा उतना ही वह महान् होगा, चाहे उसमें किसी सिद्धान्त का—समाजवाद, गांधीवाद, मानववाद, पूँजीवाद, किसी भी वाद का—समर्थन हो या विरोध।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि पूँजीवाद की जो प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः मानव-हित में घातक हैं उनका समर्थन कैसे श्रेयस्कर हो सकता है। पर इसका उत्तर सरल है। पहले तो यह अनुचित समर्थन मानव-मन को आनन्द देने में ही असमर्थ होगा; और यदि समर्थ होगा भी तो लेखक की अनुभूति की तीव्रता और आत्माभिव्यक्ति की निष्कपटता के कारण ही। आप कह सकते हैं कि वह गलत रास्ते पर है, लेकिन उसकी ईमानदारी और ताक़त की दाद आपको देनी ही होगी। इसी उलझन को सुलझाने के लिए तो पुराने आचार्य ने रसानुभूति को अलौकिक कहा है। वह बेचारा यही कहना चाहता था कि इस प्रकार के लोक-प्रचलित अस्थायी वादों के द्वारा साहित्य का रस अशुद्ध हो जाता है। काव्य रसात्मक है, सदैव रहा है और आशा यही है कि रहेगा भी। जिसमें रस नहीं है वह अपने उच्च सिद्धांतों या किसी भी अन्य कारण से काव्य से भी ऊँची कोई वस्तु हो जाय, पर काव्य नहीं हो सकता।

अतएव, जहाँ तक व्याख्या का सम्बन्ध है, मार्क्सवाद ने हमें एक नया मार्ग दिखाया है और उसके लिए हम कृतज्ञ हैं। परन्तु एक तो यह मार्ग अंतिम : एक-मात्र मार्ग नहीं है—फ्रॉयड आदि द्वारा प्रदर्शित अन्य मार्ग कम

उपयोगी नहीं। दूसरे, यह एक परीक्षण-विधि-मात्र है, मूल्यांकन की कसौटी नहीं। इस नई विधि का प्रयोग हमें रस-परीक्षण के लिए, इसकी सीमाओं को स्वीकार करते हुए करना चाहिए। साहित्य के क्षेत्र में तो शुद्ध मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र का ही, जो मनोविज्ञान का ही एक अंग है, अधिक विश्वास करना उचित होगा।

एक और आक्षेप, जो प्रगतिवाद के मूल सिद्धान्तों पर किया जा सकता है, यह है कि इसका दृष्टिकोण मूलतः वैज्ञानिक होने के कारण बौद्धिक एवं आलोचनात्मक है। अतएव स्वभाव से ही उसमें वह तन्मयता या आत्म-विसर्जन नहीं है जो काव्य के लिए अनिवार्य है। अस्तु।

हिन्दी में प्रगतिवाद का आदि-ग्रंथ 'गोदान' है। परन्तु गांधी जी में आस्था रखने वाले प्रेमचन्द को शुद्ध प्रगतिवादी शायद न माना जा सके। वे मानववाद के आगे नहीं जा सके। प्रगतिवाद की रूप-रेखा पिछले दो-तीन वर्षों से ही बननी आरम्भ हुई है। यह एक विचित्र संयोग है कि हिन्दी में प्रगतिवाद का भी सबसे पहला लेखक—जिसने उसे गौरव दिया—वही व्यक्ति है जो छायावाद का भी एक प्रमुख प्रवर्तक था। मेरा आशय कवि पंत से है।

इस वर्ग के कवि-लेखकों में केवल एक ही प्रवृत्ति सर्व-सामान्य है—क्रांति। शुद्ध प्रगतिवादी दृष्टिकोण तो शायद पन्त और नये कवियों में नरेन्द्र ही ने ग्रहण किया है। और सच तो पन्त और नरेन्द्र में भी यह बुद्धि की प्रेरणा है, संस्कार अभी उनके भी पीछे को ही दौड़ रहे हैं।[1] शेष कवि-लेखक तो अंशतः ही प्रगतिशील हैं।

चौंकने की बात नहीं; पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि हिन्दी में शुद्ध प्रगतिशील रचनाएँ तो मिल जायँगी, परन्तु इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को सर्वथा ग्रहण कर लेने वाला पूर्णतः प्रगतिशील कवि या लेखक अभी सामने नहीं आया। लेकिन ऐसा कहना, हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य का तिरस्कार करना नहीं है। एक तो उसका इतिहास ही दो-तीन वर्षों में सिमटा हुआ है। दूसरे अन्य देशों

---

[1] परन्तु अब इन दोनों को भी प्रगतिवादी पार्टी के चीफ़ ह्विप डॉक्टर रामविलास शर्मा ने पार्टी से निकाल दिया है। —लेखक

में भी, शायद रूस को छोड़कर, आलोचना ही अधिक है सृजन कम। हिन्दी में भी स्वभावतः आलोचना ही अधिक है। और इसके कई कारण हैं—

१. हिन्दी-कवियों का दृष्टिकोण अभी वैज्ञानिक अर्थात् भौतिक एवं बौद्धिक नहीं बन पाया। अभी वह अधिकांश में भाव-प्रधान है। आत्मा का मोह भी ये कवि नहीं छोड़ पाए हैं। इसलिए हिन्दी-साहित्य में मानववाद या क्रान्ति ही मुख्य है, वैज्ञानिक समाजवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद बहुत कम।

२. हिन्दी में अभी सामाजिक चेतना इतनी प्रबल नहीं हुई है कि व्यक्तिगत प्रतिक्रियाएं उसमें लय हो जायँ। अभी अधिकांश कवियों में वैज्ञानिक नीति-तत्त्व की प्रचुरता है।

३. हिन्दी में जिन प्रवृत्तियों ने छायावाद को जन्म दिया उनको पूरी तरह अभिव्यक्त होने का अवसर नहीं मिल पाया। कुछ तो एक साथ बदली हुई राजनीतिक परिस्थिति और कुछ प्रोपैगैण्डा के परिणाम-स्वरूप वे प्रवृत्तियाँ एक साथ समय से पहले ही दब गईं। प्रगतिवाद छायावाद की भस्म से नहीं पैदा हुआ, वह उसके यौवन का गला घोंटकर ही उठ खड़ा हुआ है। 'कामायनी', 'तुलसीदास' और 'अनामिका'—उधर 'युग-वाणी' के रचना-काल में कोई विशेष अन्तर नहीं है! आज के अधिकांश प्रगतिवादी कल के छायावादी हैं—अतएव स्वाभाविक है कि इनकी ओर से पूरी-पूरी कोशिश होने पर भी वह क्षयी रोमांस (?) बार-बार उभर आता है। अब भी ये प्रायः वहीं उस मधु-माधव के उपवन में पलायन कर जाते हैं। दिनकर की 'रसवंती', अंचल की 'मधूलिका' और 'अपराजिता', नरेन्द्र और स्वयं पन्त की अनेक कविताएँ मेरे कथन की पुष्टि करेंगी।

४. हिन्दी के अधिकांश प्रगतिशील लेखक उस जीवन से दूर हैं जो उनकी प्रेरणा का मूल स्रोत है। उनके सिद्धान्त पढ़कर और मनन करके प्राप्त किये हुए हैं, सहकर और भोगकर नहीं। केवल बौद्धिक सहानुभूति के बल पर शोषितों की पीड़ा को मुखर करने वाले या हजारों मील दूर पर लड़ने वाली लाल सेना के अभियान-गीत लिखने वाले इन लेखकों की रचनाएं स्वभावतः ही प्राणवान् कैसे हो सकती हैं?

अभी भारतीय जीवन में गाँधीवाद और समाजवाद का संघर्ष चल रहा है। गाँधीवाद का भारत के संस्कारी हृदय पर गहरा प्रभाव है। पर यह भी

निश्चित है कि उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई है। निदान संक्रान्ति के इस युग में अनमिल तत्त्वों का सम्मिश्रण जीवन की भाँति कविता में भी सहज सम्भव है। पर यह न मानना कृतघ्नता होगी कि भारतीय जीवन में समाजवाद की तरह हिन्दी में प्रगतिवाद भी एक जीवित शक्ति है। उसमें उत्साह और चैतन्यता है। आज भारत में प्रगतिवाद का भविष्य समाजवाद के भविष्य के साथ बँधा हुआ है—लेकिन फिर भी आधुनिक साहित्य के अध्येता को आदर और धैर्य पूर्वक उसकी गतिविधि का निरीक्षण करना होगा।

में भी, शायद रूस को छोड़कर, आलोचना ही अधिक है सृजन कम। हिन्दी में भी स्वभावतः आलोचना ही अधिक है। और इसके कई कारण हैं—

१. हिन्दी-कवियों का दृष्टिकोण अभी वैज्ञानिक अर्थात् भौतिक एवं बौद्धिक नहीं बन पाया। अभी वह अधिकांश में भाव-प्रधान है। आत्मा का मोह भी ये कवि नहीं छोड़ पाए हैं। इसलिए हिन्दी-साहित्य में मानववाद या क्रान्ति ही मुख्य है, वैज्ञानिक समाजवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद बहुत कम।

२. हिन्दी मे अभी सामाजिक चेतना इतनी प्रबल नहीं हुई है कि व्यक्तिगत प्रतिक्रियाएं उसमे लय हो जायँ। अभी अधिकांश कवियों में वैज्ञानिक नीति-तत्त्व की प्रचुरता है।

३. हिन्दी में जिन प्रवृत्तियों ने छायावाद को जन्म दिया उनको पूरी तरह अभिव्यक्त होने का अवसर नहीं मिल पाया। कुछ तो एक साथ बदली हुई राजनीतिक परिस्थिति और कुछ प्रोपैगैण्डा के परिणाम-स्वरूप वे प्रवृत्तियाँ एक साथ समय से पहले ही दब गईं। प्रगतिवाद छायावाद की भस्म से नहीं पैदा हुआ, वह उसके यौवन का गला घोंटकर ही उठ खड़ा हुआ है। 'कामायनी', 'तुलसीदास' और 'अनामिका'—उधर 'युग-वाणी' के रचना-काल में कोई विशेष अन्तर नहीं है! आज के अधिकांश प्रगतिवादी कल के छायावादी हैं—अतएव स्वाभाविक है कि इनकी ओर से पूरी-पूरी कोशिश होने पर भी वह क्षयी रोमांस (?) बार-बार उभर आता है। अब भी ये प्रायः वहीं उस मधु-माधव के उपवन में पलायन कर जाते हैं। दिनकर की 'रसवंती', अंचल की 'मधूलिका' और 'अपराजिता', नरेन्द्र और स्वयं पन्त की अनेक कविताएँ मेरे कथन की पुष्टि करेंगी।

४. हिन्दी के अधिकांश प्रगतिशील लेखक उस जीवन से दूर है जो उनकी प्रेरणा का मूल स्रोत है। उनके सिद्धान्त पढ़कर और मनन करके प्राप्त किये हुए हैं, सहकर और भोगकर नहीं। केवल बौद्धिक सहानुभूति के बल पर शोषितों की पीड़ा को मुखर करने वाले या हजारों मील दूर पर लड़ने वाली लाल सेना के अभियान-गीत लिखने वाले इन लेखकों की रचनाएं स्वभावतः ही प्राणवान् कैसे हो सकती हैं?

अभी भारतीय जीवन मे गाँधीवाद और समाजवाद का संघर्ष चल रहा है। गांधीवाद का भारत के संस्कारी हृदय पर गहरा प्रभाव है। पर यह भी

११

यौवन के द्वार पर

(१)

अभी थोड़े दिनों की बात है, 'साहित्य-सन्देश' में हिन्दी के प्रौढ़ समालोचक श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी का एक लेख छपा था, जिसमें वर्तमान हिन्दी-साहित्य के गतिरोध पर क्षोभ प्रकट किया गया था। इसी अङ्क में एक ज़ोरदार लेख प्रोफ़ेसर प्रकाशचन्द्र गुप्त का भी था, जिसका आशय भी क़रीब-क़रीब यही था। इन लेखों से हिन्दी-संसार में एक खलबली-सी मच गई। हिन्दी के रिटायर्ड महारथियों को भी चिन्ता हुई। उधर रायबहादुर डॉक्टर श्यामसुन्दरदास और मिश्रबन्धु महोदयों में पत्र-व्यवहार हुआ, इधर नागरी-प्रचारिणी सभा और साहित्य-सम्मेलन भी इस गतिरोध को भङ्ग करने के लिए कटिबद्ध हुए।

परिणाम-स्वरूप डॉक्टर श्यामबिहारी मिश्र की अध्यक्षता में काशी में एक सभा बुलाई गई, जिसमें हिन्दी के लगभग सभी नये-पुराने कलाकार उपस्थित थे। बहुत-कुछ वाद-विवाद के उपरान्त यह निश्चित हुआ कि वर्तमान हिन्दी-साहित्य की गति-विधि की जाँच की जाय और सब से पहले कविता से श्रीगणेश हो। इस कार्य के लिए एक उपसमिति बनाई गई जिसमें सर्वश्री पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी, कृष्णबिहारी मिश्र और गुलाबराय के नाम सर्व-सम्मति से चुने गए। परन्तु एक नये लेखक ने आक्षेप किया कि उपर्युक्त तीनों ही सज्जन नवीन साहित्य से पूर्ण परिचित नहीं हैं, अतएव कम-से-कम एक नवीन आलोचक भी लिया जाय, जो मैटीरियलिस्टिक इण्टरप्रेटेशन आफ हिस्ट्री करना जानता हो, साइको-एनैलिसिस से परिचित हो, ऐगो और इड की सीमा-रेखाओं को समझता हो। इस पर वहाँ उपस्थित अनेक वयोवृद्ध लेखक आग-बबूला हो गए—इन कल के लौंडों ने अन्धेर मचा रखा है; एक तो हिन्दी-साहित्य की यह दशा कर दी और फिर दूसरों पर विश्वास नहीं करते; हमारे साहित्य से श्रद्धा तो बिलकुल उठ गई है ! बड़ी मुश्किल से इन लोगों को शान्त किया गया।

यह प्रस्ताव वहीं-का-वहीं रह हो जाता । परन्तु जब श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने स्वयं विनय पूर्वक स्वीकार किया कि आक्षेप बहुत अनुचित नहीं उसमें बहुत-कुछ सत्य है, तो एक नई समस्या उठ खड़ी हुई । फिर एक बहस शुरू हो गई । पक्ष में बोलने वालों में सर्व श्री रामबहोरी शुक्ल, ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल', ललिताप्रसाद सुकुल आदि थे; विपक्ष में श्री किशोरीदास वाजपेयी, हितैषीजी और पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित के जोरदार भाषण हुए । अन्त में पं० श्रीराम शर्मा खड़े हुए : " मैं न पक्ष में हूँ न विपक्ष में, लेकिन चीज यह है······" इतने ही में यार-लोग चिल्ला उठे : "यदि ऐसा है तो बैठ जाइए, बैठ जाइए !······"

आखिर तय यह हुआ कि निर्णायक तो उपर्युक्त तीनों सज्जन ही रहेंगे, परन्तु जिन कवियों की कविता के विषय में निर्णय होना है उनको यह अधिकार होगा कि वे अपने साथ एक नवीन आलोचक भी ले आयें ।

अब बस एक प्रश्न शेष था : किन-किन नवीन कवियों को लिया जाय। और यह प्रश्न सचमुच भयङ्कर था । खुले अधिवेशन में तो खून-खराबे की गुञ्जाइश थी, इसलिए अध्यक्ष महोदय ने बुद्धिमानी से इसे निर्णायकों पर ही छोड़ दिया । निर्णायकों ने कुछ नये आलोचकों की सम्मति लेकर दिनकर, अञ्चल और नरेन्द्र ये तीन नाम चुनकर सभापति महोदय को घोषणा के लिए दे दिए । इस बार 'जीवन-साहित्य' के सुधीन्द्रजी उठ खड़े हुए और बोले : " मुझे इस पर एक आक्षेप है । ये तीनों सज्जन समाजवादी हैं, इनमें गाँधीवाद का प्रतिनिधि नहीं है । अतएव मैं प्रस्ताव करता हूँ कि हिन्दी के प्रसिद्ध गाँधीवादी राष्ट्र-कवि श्रीसोहनलाल द्विवेदी को अवश्य सम्मिलित किया जाय । ऐसा न करना अनुचित, त्याज्य और घृणित होगा ।" सुधीन्द्रजी की इस युक्ति पर डॉक्टर मिश्र चौंक पड़े—वर्गीकरण तो उन्होंने भी किया है, लेकिन यह नया वर्गीकरण गाँधीवादी और समाजवादी क्या बदतमीज़ी है ! और आप सच मानिए कि वे चिढ़कर फौरन ही इस प्रस्ताव को रूल-आउट कर देते, पर जब स्वयं राय-बहादुर श्यामसुन्दरदासजी ने काव्य-गुण के आधार पर द्विवेदीजी की सिफ़ारिश की तो वह शान्त हो गए ।

इस प्रकार चार कवि चुने गए—दिनकर, नरेन्द्र, अञ्चल और सोहनलाल द्विवेदी—और उनसे कहा गया कि वे स्वयं अपना व्याख्याता

चुनकर तीनों निर्णायकों से अभी मिल लें जिससे भावी कार्यक्रम की रूपरेखा निश्चित हो जाय ।

दिनकर ने इधर-उधर आँखे दौड़ाई तो उन्हें ऐसा कोई व्यक्ति नजर नहीं आया जिसने उनके काव्य का निकट से अध्ययन किया हो—बेनीपुरीजी तो जेल में थे ! आख़िर उन्होंने स्वयं ही अपनी पैरवी करने का इरादा किया । इस पर कुछ लोगों को थोड़ा आश्चर्य हुआ कि 'कस्मै-दैवाय' के इस लेखक ने पं० बनारसीदास चतुर्वेदी-जैसे अभिभावक को—जिन्होंने 'रेणुका' को हिन्दी-कविता के मूर्धन्य पर आसीन करने के लिए भगीरथ प्रयत्न तो नहीं (क्योंकि वह तो सफल हो गया था) परन्तु गाँधी-प्रयत्न अवश्य किया था—क्यों नहीं साथ लिया । पर दिनकर की दृष्टि मानो कह रही थी कि अब मैं ज्यादा समझदार हो गया हूँ ।

नरेन्द्र उठे और चुपके से श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के पास जाकर खड़े हो गए, जैसे कुछ कहने-सुनने की जरूरत ही न हो—इन दोनों लघ-लघु गात व्यक्तियों का आलोचक-आलोच्य-सम्बन्ध सनातन काल से ही चला आया हो !

अञ्चल ने सविनय दृष्टि से पं० नन्ददुलारे वाजपेयी की ओर देखा तो उनकी त्योरियाँ चढ़ गई, बोले—"मुझे तुम्हारे लिए जो करना था कर दिया—'अपराजिता' की भूमिका लिखकर तुम्हें हिन्दी के प्रमुख कवियों में प्रतिष्ठित कर दिया । अब इस काम के लिए किसी छोटे-मोटे आदमी को टटोलो ।" लाचार होकर अञ्चल को श्री कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा से ही, जो गहरी सुर्ख़ टाई लगाए हुए उनके साथ-साथ काफ़ी फुर्ती से इधर-उधर घूम रहे थे, संतोष करना पड़ा ।

सोहनलाल द्विवेदी के मन में इस समय विचित्र संघर्ष चल रहा था । उनको अपने योग्य कोई आलोचक ही नज़र न आता था । वे बार-बार सोचते थे किसको साथ ले चलूँ ? महामहिम महामना महर्षि मालवीयजी को ? परन्तु वे तो कहीं आते-जाते नहीं । पं० जवाहरलाल जी को ? लेकिन वे तो सुनते हैं रूज़वेल्ट से मिलने की तैयारी कर रहे हैं । आचार्य शुक्लजी वक्त पर ही मर गए । रायबहादुर श्यामसुन्दरदास ने साहित्यिक संन्यास-सा ले लिया है । पन्तजी ? बड़े सङ्कोची है, शायद तैयार न हों ! लेकिन होंगे क्यों नहीं, मैंने भी तो उन पर एक कविता लिखी है । हरिभाऊजी का साहित्यिक महत्त्व लोग नहीं मानेंगे ।

चुनकर तीनों निर्णायकों से अभी मिल लें जिससे भावी कार्यक्रम की रूपरेखा निश्चित हो जाय।

दिनकर ने इधर-उधर आँखें दौड़ाई तो उन्हें ऐसा कोई व्यक्ति नजर नहीं आया जिसने उनके काव्य का निकट से अध्ययन किया हो—बेनीपुरीजी तो जेल में थे! आखिर उन्होंने स्वयं ही अपनी पैरवी करने का इरादा किया। इस पर कुछ लोगों को थोड़ा आश्चर्य हुआ कि 'कस्मै-देवाय' के इस लेखक ने पं० बनारसीदास चतुर्वेदी-जैसे अभिभावक को—जिन्होंने 'रेणुका' को हिन्दी-कविता के मूर्धन्य पर आसीन करने के लिए भगीरथ प्रयत्न तो नहीं (क्योंकि वह तो सफल हो गया था) परन्तु गाँधी-प्रयत्न अवश्य किया था—क्यों नहीं साथ लिया। पर दिनकर की दृष्टि मानो कह रही थी कि अब मैं ज्यादा समझदार हो गया हूँ।

नरेन्द्र उठे और चुपके से श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के पास जाकर खड़े हो गए, जैसे कुछ कहने-सुनने की जरूरत ही न हो—इन दोनों लघ-लघु गात व्यक्तियों का आलोचक-आलोच्य-सम्बन्ध सनातन काल से ही चला आया हो!

अञ्चल ने सविनय दृष्टि से पं० नन्ददुलारे वाजपेयी की ओर देखा तो उनकी त्योरियाँ चढ़ गईं, बोले—"मुझे तुम्हारे लिए जो करना था कर दिया—'अपराजिता' की भूमिका लिखकर तुम्हें हिन्दी के प्रमुख कवियों में प्रतिष्ठित कर दिया। अब इस काम के लिए किसी छोटे-मोटे आदमी को टटोलो।" लाचार होकर अञ्चल को श्री कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा से ही, जो गहरी सुर्ख टाई लगाए हुए उनके साथ-साथ काफ़ी फुर्ती से इधर-उधर घूम रहे थे, संतोष करना पड़ा।

सोहनलाल द्विवेदी के मन में इस समय विचित्र संघर्ष चल रहा था। उनको अपने योग्य कोई आलोचक ही नजर न आता था। वे बार-बार सोचते थे किसको साथ ले चलूँ? महामहिम महामना महर्षि मालवीयजी को? परन्तु वे तो कहीं आते-जाते नहीं। पं० जवाहरलाल जी को? लेकिन वे तो सुनते हैं रूजवेल्ट से मिलने की तैयारी कर रहे हैं। आचार्य शुक्लजी वक्त पर ही मर गए। रायबहादुर श्यामसुन्दरदास ने साहित्यिक संन्यास-सा ले लिया है। पन्तजी? बड़े सङ्कोची हैं, शायद तैयार न हों! लेकिन होंगे क्यों नहीं, मैंने भी तो उन पर एक कविता लिखी है। हरिभाऊजी का साहित्यिक महत्त्व लोग नहीं मानेंगे।

इसी उधेड़-बुन में देर हो गई। शेष पाँचों सज्जन प्रस्तुत थे। निदान सभापति महोदय को कहना पड़ा—"द्विवेदीजी, आपने अपना साथी नहीं चुना, जल्दी कीजिए।" द्विवेदीजी उत्तर भी न दे पाए थे कि डॉक्टर रामविलास शर्मा ने अत्यन्त विनय पूर्वक अपनी सेवाएं अर्पित कीं। बेचारे रावराजा को क्या मालूम था? सरल स्वभाव से बोल उठे—"हाँ-हाँ, मोहनलालजी ठीक हैं। शर्माजी से अच्छा नई कविता का पारखी और कौन मिलेगा? वैसे भी पहलवान जँचते हैं। राम राखे, शाब्दिक हाथा-पाई से भी नहीं घबरायँगे!" बस फिर क्या था! द्विवेदीजी का स्वाभिमानी चेहरा लाल हो गया। बोले—"आप वयोवृद्ध होकर मजाक करते हैं। मैं राष्ट्र-कवि हूँ, राष्ट्र की एक-मात्र चिन्ता-धारा का प्रतीक। मेरा घोर अपमान किया गया है।" और इतना कहकर श्री सोहनलाल द्विवेदी सुधीन्द्रजी को वहीं छोड़कर सभा से उठकर चले गए।

रावराजा अजब उलझन में थे, बेचारे बूढ़े आदमी खिसियाने-से रह गए। लेकिन बख्शी जी ने खड़े होकर कहा कि अब बहुत देर हो गई है; जो नहीं सम्मिलित होता उसे छोड़ दीजिए। विवशता है।

(२)

एक सप्ताह बाद!

साप्ताहिक 'भारत' और 'देशदूत' में निर्णायक उपसमिति का विस्तृत वक्तव्य प्रकाशित हुआ जिसकी यथार्थ प्रतिलिपि हम पाठकों की सुविधा के लिए यहाँ दे रहे हैं।

"दिनकर, अञ्चल और नरेन्द्र की कविताओं का अध्ययन करने के उपरान्त एक बात असंदिग्ध रूप से हमारे सामने आती है कि इन तीनों के काव्य-विषय मुख्यतः रति और उत्साह हैं। अथवा आज की शब्दावली में इनके काव्य की मूल प्रवृत्तियाँ हैं: सेक्स और क्रांति। क्रांति: सामाजिक और राजनीतिक दोनों।

रति और उत्साह, जिसमें ध्वंसमूलक क्रांति और रचनात्मक निर्माण-कार्य दोनों ही आ जाते हैं, यौवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है; और इन दोनों के संतुलित उपयोग एवं उपभोग में ही उसकी स्वस्थता है। इनमें पहली प्रवृत्ति प्रधानतः अन्तर्मुखी और दूसरी बहिर्मुखी है। पहली का सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन और दूसरी का सामाजिक दायित्व से है। दायित्व शब्द का

प्रयोग हम इसलिए कर रहे हैं कि ये तीनों ही कवि उसके प्रति अत्यन्त सचेत हैं—इतने अधिक कि अपनी पहली प्रवृत्ति के लिए तीनों को ही कुछ-न-कुछ सफ़ाई देनी पड़ी है।

१. नरेन्द्र—" 'प्रवासी के गीत" एक क्षय-ग्रस्त युवक कवि के गीत हैं।"

२. अंचल—"जहां मैं बहक गया हूँ वहाँ मेरी दुर्बलता है, जीवन के क्षयी रोमान्स के प्रति अवाञ्छनीय आसक्ति है।"

३. दिनकर—" 'रेणुका' और 'हुंकार' के विपरीत 'रसवन्ती' की रचना निरुद्देश्य प्रसन्नता से हुई है और इसमें किसी निश्चित संदेश का अभाव-सा है। इन गीतों में मैं अपने हाथ से छूट-सा गया हूँ और प्रायः अकर्मण्य-आलसी की भाँति उस प्रगल्भ अप्सरी के पीछे-पीछे भटका फिरा हूँ जिसे कल्पना कहते हैं। इस अलस भ्रमण में कुछ मेरे हाथ भी लगा या नहीं, यह तो याद नहीं; हाँ, यात्रा सुखद रही।"

नरेन्द्र और अञ्चल ने अपनी रति-भावनाओं को क्षय-ग्रस्त युवक के गीत और रोमान्स कहा है। पर वास्तव में यह रोमान्स ही इन दोनों के स्वभाव का धर्म है जिसे उन्होंने खिलवाड़ करके विकृत कर लिया है। ये दोनों ही कवि सचमुच अपने-अपने ढंग के 'न्यूरोसिस' के केस हैं। न्यूरोसिस शब्द पर चौंकने की आवश्यकता नहीं। यह एक वैज्ञानिक शब्द है, जिसका अर्थ है साधारण मानसिक स्वास्थ्य से च्युति। और आज हममें से ६० प्रतिशत नवयुवक इसके शिकार हैं।

नरेन्द्र का नारी के प्रति दृष्टिकोण मूलतः छायावादी है। उनकी भावना मौग्ध्य से आगे नहीं बढ़ सकी, उन्होंने दूर से ही नारी को मुग्ध भाव से देखा है। स्पष्ट शब्दों में, उनकी सेक्स-चेतना ने नारी की ओर बढ़ने : उसका निकट अनुभव प्राप्त करने के स्थान पर कवि के भीतर ही प्रतिवर्तन किया है, वह कवि के मन में ही घुमड़ती रही है। अतएव उनकी शृङ्गार-कविता उनके संयोग-वियोग के गीत सभी सफल-विफल दिवा-स्वप्नों के ही मधुर चित्र हैं। हिन्दी का छायावाद अनेक प्रकार की सामाजिक कुण्ठाओं की सृष्टि है जिसमें मुख्यतम है कुण्ठित शृङ्गार-भावना। नरेन्द्र की रसाभिव्यक्तियों में इसी कुण्ठा का नग्नतम रूप मिलता है। इस कुण्ठा के लिए उनका अपना

संकोची स्वभाव, जिसमें नारीत्व का भी पर्याप्त अंश विद्यमान है, और सामाजिक परिस्थितियाँ उत्तरदायी है। यह कुण्ठा जितनी ही विवशताजन्य यानी व्यक्ति के प्रतिकूल होगी उतनी ही अधिक मन में घुमड़न पैदा करेगी और फिर यह घुमड़न उतने ही अधिक दिवा-स्वप्नों की सृष्टि करेगी। 'शूल-फूल' और 'प्रवासी के गीत' दोनों मे तो स्पष्टतः स्वीकृत रूप मे छायावादी प्रेरणा है।

छायावाद में काम-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं की दो सीमाएँ है : पंत और प्रसाद। पंत का दृष्टिकोण शुद्ध मानसिक है। उनका अन्तर्मुखी एवं अत्यन्त सूक्ष्मता-प्रिय स्वभाव किशोर-सुलभ मौग्ध्य से आगे नहीं जा सका। नारी के प्रति उनका भाव काम, विस्मय और श्रद्धा का एक विचित्र अशरीरी मिश्रण है। इसके विपरीत प्रसाद की प्रतिक्रिया में स्वस्थ शरीर की वाञ्छित उष्णता है और इसीलिए उनके शृङ्गार-चित्रों मे रूप-यौवन की स्वस्थ गन्ध है। नरेन्द्र में न तो पंत की-सी अत्यन्त परिष्कृति-प्रिय रुचि का संयम है और न प्रसाद के दृष्टिकोण का स्वास्थ्य। पंत ने अपने और नारी के बीच सदैव जो एक आदरपूर्ण अन्तर बनाए रखा है वह नरेन्द्र में नहीं है। उसके विरह-चित्रों के पीछे जो कोई नारी-पात्र झाँकता हुआ मिलता है वह शायद उनके काफ़ी पास आकर उनकी वासनाओं को उत्तेजित करके पृथक् हो गया है, जिससे उनके मानसिक स्वास्थ्य पर और भी बुरा प्रभाव पड़ा है। इसीलिए उनके चित्र कामस्नात होते हुए भी पूर्ण स्वस्थ मन की उद्‌भूति नहीं है, उनमें नारी-अंगों के प्रति इतना अधिक लालच है कि उनको सर्वथा स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। आज नरेन्द्र का दृष्टिकोण बदल गया है। वे क्रियात्मक रूप में प्रगतिवादी हैं और उनकी ईमानदारी में शुबा करने की कोई गुन्जाइश नहीं। अपने इस नये दृष्टिकोण के लिए उन्होंने सहर्ष एक बड़ा मूल्य भी दिया है। और यह भी ठीक ही है कि उन्होंने काफ़ी सचाई से अपने सौन्दर्य-रसिक हृदय को समाजवादी साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। परन्तु स्वभाव की मूल वृत्तियाँ सरलता से नहीं बदल सकतीं। जितना ही नरेन्द्र अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख को क्षय-ग्रस्त मनोविकार समझकर उसे सामाजिक हित में अंतर्भूत करने का प्रयत्न करते है उतना ही शायद उनका न्यूरोसिस बढ़ता जाता है।

अभी उनकी एक कहानी प्रकाशित हुई है—'शीराज़ी'। उसका दृष्टिकोण सर्वथा स्वस्थ है, शीराज़ी के चरित्र की शक्ति असंदिग्ध है; किन्तु कवि की अपनी भूखी वृत्ति भी नग्न-रूप में प्रकट हुए बिना नहीं रह सकी :

"कहते हैं वहाँ हिन्दुस्तान के सब सूबों की ही सुन्दरियाँ नहीं वरन् विदेश के देशों से भी कई सुन्दर स्त्रियाँ उन्होंने रखी थीं। हिन्दुस्तानी स्त्रियाँ उन्हें विशेष प्रिय थीं—सुदूर सरहदी सूबे की छरहरी लाँबी नाजनीं, जिसकी भाषा जीवन-पर्यन्त न राजा साहब ही समझ पाए और न जो राजा साहब की ही भाषा सीख सकी, वह कर्नाटकी जिसकी अटपटी बोली में वही चटपटापन था जो दक्षिण की भूमि में उगने वाले मिरच-मसालों मे होता है, कुमायूँ-गौराङ्गना नायक-कन्या जो अपने लिए हमेशा पुल्लिङ्ग वाचक शब्दों से कभी मोह ही न छोड़ सकी थी, बुन्देलखण्ड की वह कुमारी, जिसकी मांस-पेशियाँ उस देश की चट्टानों की तरह दृढ़ और वहाँ की रातों की तरह कोमल थीं और बुन्देलखण्ड की तारों-भरी रात के समान ही जिसका साँवला-सलोनापन आँखों को चमत्कृत कर देता था, मालवा की कोमलाङ्गी मालती जिसके श्वासों में मादक सौरभ था अहि-फेन के फूलों को चूमकर बहने वाली वासन्ती समीर का······"

अञ्चल में नरेन्द्र की अपेक्षा पौरुष अधिक है। छायावाद के मूल में जो विद्रोह या असन्तोष की भावना थी उसने दो रूप धारण किये। पन्त, महादेवी और रामकुमार-जैसे भाव-सुकुमार कवियों में वह अन्तर्मुखी होकर आत्मबद्ध हो गई; निराला, भगवती बाबू और नवीन-जैसे शक्तिशाली व्यक्तित्वों में उसीने बहिर्मुखी होकर क्रान्ति का रूप धारण किया जो मुक्ति का कोई मार्ग न पाकर अवरुद्ध वाष्प-समूह के समान विस्फोट करती रही। अञ्चल इन्हीं दूसरे प्रकार के कवियों की साहित्यिक सन्तान है, जिसने भौतिकवाद के वर्धमान प्रभाव को पूरी तरह ग्रहण करके अपने दृष्टिकोण को इन पूर्वजों की अपेक्षा अधिक स्थूल और भौतिक बना लिया है। स्वभावतः उसकी सेक्स-चेतना मांस-लुब्ध है। अञ्चल दूर खड़ा होकर लालची निगाहों से नारी को नहीं देखता। उसकी सेक्स-प्रतिक्रिया तो ऐसे व्यक्ति की-सी है जिसकी भूख खाने पर भी नहीं मिटती। स्पष्टतः यह भी एक अस्वास्थ्य का ही लक्षण है। और सचमुच अञ्चल का न्यूरोसिस नरेन्द्र के न्यूरोसिस से ज्यादा खतरनाक है। उसकी कविता में नारी की जिस वीभत्स प्रलयकारिणी शक्ति का बार-बार आह्वान किया गया है वह और कुछ नहीं उसकी यही विक्षुब्ध वासना है जो विकराल रूप धारण करके उसके मन में प्रकट होती रहती है।

अंचल के शृङ्गार-चित्रों में तमस् की शक्ति है और यह शृङ्गारिक तमस्

रति, घृणा और क्रोध के तत्त्वों से बना हुआ है। हमारे स्वभाव में प्रेम करने की प्रवृत्ति और वध करने की प्रवृत्ति दोनों ही साथ-साथ वर्तमान रहती है। ये दोनों एक-दूसरे से इतनी मिली-जुली है कि किसी प्रकार का आघात पाते ही, जैसे हताश हो जाने पर, तुरन्त रूप-परिवर्तन कर लेती है । एक साथ ही हमारा प्रेम घृणा में और घृणा प्रेम में परिवर्तित हो जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ परिस्थितियों में इन दोनों का सामञ्जस्य भी गड़बड़ हो जाता है और वे अत्यन्त विशृङ्खल रूप धारण कर लेती है। आत्म-पीड़न एवं पर-पीड़न ऐसी ही प्रवृत्तियाँ है। अञ्चल की भूखी व्यसना मे स्वभावतः ऐसा ही हुआ है। अंग्रेजी में बायरनिज्म बहुत-कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति का नाम है।

फिर दिगम्बरी के आँगन से लोथों के अम्बार सजाये
कौन चलीं आतीं तुम रूपसि ! रक्त-लिप्त अलकें उलझाये ?
भर लाई हो तप्त कठिन अङ्गों में तूफानों का आसव
आज तुम्हें फिर विश्व बदलना आज तुम्हें क्या कठिन असम्भव ?

दिनकर का व्यक्तित्व मूलतः शृङ्गारी नहीं है। परन्तु उन्होंने शृङ्गार को जीवन की एक अत्यन्त स्वस्थ प्रवृत्ति के रूप में ग्रहण किया है और उसको, जैसा कि उनके उद्धरण से स्पष्ट है, वाञ्छित आदर दिया है। दिनकर ने अपने को संघर्षमय पथ का पथिक मानते हुए शृङ्गार को सुखद विराम-स्थल माना है। उनके शृङ्गार-गीत शक्तिशाली व्यक्ति के हृदय में स्वभाव से वर्तमान रति-भावना की शुद्ध उद्गीतियाँ हैं। पुरुष-प्रिया के निरंतर आकर्षण की मान्यता स्वीकार करते हुए उन्होंने नारी को पुरुष-जीवन के लिए एक अत्यन्त मधुर प्रभाव माना है।

छरहरे बदन वाले साधारणतः स्वस्थ इस युवक कवि की चैतन्य आँखों में मुस्कराती हुई रस-रेखा नारी-सौंदर्य से इसी मधुर प्रभाव को ग्रहण करती है। उसमें नारी-अङ्गों के प्रति न कोई लालच है और न अमिट भूख। स्पष्टतः दिनकर में किसी प्रकार की मानसिक विकृति के लक्षण नहीं दिखाई देते । उसमें दिवा-स्वप्नों का लगभग अभाव-सा है। इसलिए उनकी सभी रसोक्तियाँ विकच और प्रसन्न हैं। दिनकर के शृङ्गारिक दृष्टिकोण में एक और विभिन्नता यह है कि वह सर्वथा भौतिक नहीं हो पाया, उसमें कहीं-कहीं आध्यात्मिक स्पर्श भी अत्यन्त सुव्यक्त है। और इसका कारण शायद यही है कि

दिनकर मूलतः देश-भक्त कवि है। उसके हृदय में भारत के पवित्र अतीत के प्रति अक्षुण्ण श्रद्धा है। इसीलिए उपनिषद् और बौद्ध दर्शन की जन्मभूमि में उत्पन्न और पोषित यह कवि आत्मा का मोह नहीं छोड़ सका। 'रसवंती' की अनेक कविताओं में इस प्रकार के अभौतिक संकेत है। यह दूसरी बात रही कि अन्त में जाकर इस प्रकार के सभी अभौतिक संकेतों का भौतिक आधार मिल जाय, क्योंकि प्रेम तो भौतिक ही हो सकता है।

अब इन कवियों के व्यक्तित्व का दूसरा पहलू लीजिए: उत्साह या क्रान्ति-भावना।

नरेन्द्र में यह भावना मुख्यतया प्रतिक्रिया-जन्य है। 'प्रवासी के गीत' से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके स्वभाव की कोमलता में जब परिस्थितियों के आघात से आत्म-क्षय के चिह्न दिखाई देने लगे तो उन्होंने एक सचेत व्यक्ति की भाँति उसका उपचार करने का प्रयत्न किया। वैयक्तिक चेतनाएँ जब किसी प्रकार के अतिचार के कारण रुग्ण या विकृत हो जायँ तो इसका उपचार यही है कि अहं का समाजीकरण किया जाय, यानी उन चेतनाओं को आत्म-प्रेम से मोड़कर विश्व-प्रेम की ओर नियोजित किया जाय। अतिशय भावुकता की मुक्ति है बुद्धि, और अतिशय आत्मप्रेम (जो वास्तव में इस अतिशय भावुकता का मूल कारण है) की मुक्ति है सामाजिकता, एक जागरूक व्यक्ति की भाँति नरेन्द्र ने यही मार्ग ग्रहण किया है।

आज नरेन्द्र प्रगतिवादी हैं, समाजवाद उनका स्वीकृत जीवन-दर्शन है। सामाजिक हितों के लिए वे उत्साहपूर्वक क्रियाशील है। समाजवादी होने के कारण स्पष्टतः ही उनकी क्रान्ति-भावना के पीछे एक निश्चित रचनात्मक विधान है। इसलिए उनकी इन कविताओं में संयत शक्ति मिलती है, उच्छृङ्खल विस्फोट नहीं। यह एक बुद्धिवादी की क्रांति है। इसमें भविष्य का एक स्वप्न है और सचमुच नरेन्द्र का स्वप्नदर्शी स्वभाव आज भी उसका मोह नहीं छोड़ सका। जब उनके संस्कार प्रबल हो उठते हैं तो वे फिर पुराने मधुर-विधुर सपने देखने लगते हैं, जब उनकी चेतना जागरूक रहती है तो वे लाल रूस के सपने देखते हैं। उनके व्यक्तित्व की द्विधा, जो आज अत्यन्त व्यक्त रूप में हमारे सामने है, इसी स्तर पर जाकर मिटती है।

अञ्चल की क्रान्ति के पीछे मूलतः कोई बौद्धिक विधान नहीं है: अञ्चल

के स्वभाव मे बौद्धिकता का प्राधान्य नहीं है। उसमें किसी प्रकार की राजनीतिक चेतना भी नहीं है। जो कुछ है वह सामाजिक ही है, और यह सामाजिक चेतना भी प्रधानतः यौन-सम्बन्धों तक ही सीमित है। आज हमारे समाज में जो विकृतियाँ पैदा हो गई हैं उनमें एक विकृति है यौन-सम्बन्धों की विषमता, जिसका सब से स्पष्ट कारण यह है कि हमारा नीति-विधान यौन-सम्बन्धों को ही सबसे बड़ा निषेध मानकर उनके दमन को अप्राकृतिक महत्त्व देता रहा है। फलतः आज के मामूली ढङ्ग से खाते-पीते मध्यवर्गीय युवक ने जब सामाजिक बन्धनों के प्रति क्रांति की तो सबसे अधिक आक्रोश उसने यौन-नीति के विरुद्ध ही प्रकट किया। क्योंकि अन्य सभी बंधनों की अपेक्षा यही उसे अधिक खल रही थी। जो इस उलझन का कोई समाधान न निकाल सका वह भाग्यवादी बन गया और जिसने समाजवाद का सहारा ले लिया उसने इसके मूल कारण अर्थ-विषमता को अपना मुख्य शत्रु मानकर उसके विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया। अञ्चल ने समाजवाद का आँचल इसी तरह पकड़ा है। अर्थात् यौन-सम्बन्धों की विषमता ही उन्हें अर्थ-सम्बन्धों की विषमता की ओर ले गई है। यही कारण है कि 'किरण-वेला' मे भी जहां स्पष्ट शब्दों मे अञ्चल ने पुराने पापों का प्रायश्चित्त करते हुए प्रगतिवाद की दीक्षा ले ली है, जहाँ अत्यन्त ओज और तेज के साथ उन्होंने शोषितों की अग्निमयी पीड़ा को मुखर किया है, नारी-शोषण के वासना-लथ-पथ चित्रों का ही प्राधान्य है। अञ्चल की दुनियाँ में सबसे बड़ी मजलूम नारी है, और इन जुल्मों का अन्त करने के लिए भी उसने नारी की ही भैरव मूर्ति का आह्वान किया है।

अञ्चल बुद्धिजीवी नहीं है, और न श्रद्धावान् ही, इसलिए वह समाजवाद के भविष्य-स्वप्न को ग्रहण करने मे असमर्थ रहा है। अतएव उसमे क्रांति का विध्वंसात्मक रूप ही मिलता है, रचनात्मक रूप नहीं। उसकी कविता मे काले अन्धड़ की शक्ति है आशा का उज्ज्वल सन्देश नहीं! परन्तु यही उसका अपना व्यक्तित्व और शक्ति है।

हमने अभी कहा कि दिनकर मूल रूप में देश-भक्त कवि है। उन्होंने अपने कवि-जीवन के प्रभात मे 'रेणुका' में देश की गौरव-विभूति के प्रति अभिमान जागृत करते हुए पराधीनता के विरुद्ध क्रांति-घोष किया था। किन्तु केवल देश-भक्ति पिछले युग की भावना है; आज तो मानववाद की भावना जागृत हो उठी है। स्वयं मानव ही मानवता का अन्त कर रहा है—आज

के कवि की यही सबसे बड़ी पीड़ा है। दिनकर ऐसे प्रान्त का कवि है जहाँ निर्धनता अट्टहास करती है। वर्ग-वैषम्य भी बिहार से अधिक शायद रियासतों में ही मिले। इसके अतिरिक्त इन बेचारे भूखों-नंगों को प्रकृति के खूनी दाँत और पञ्जों का भी अक्सर शिकार बनना पड़ता है। इसीलिए समाजवादी आन्दोलन, किसान-आन्दोलन आदि वहाँ अधिक सक्रिय रूप धारण कर चुके है। दिनकर ने इन्हीं की तड़प को सस्वर कर दिया है। उनका अन्त करने के लिए विपथगा-क्रान्ति का आह्वान किया है। परन्तु फिर भी उसने समाजवादी जीवन-दर्शन को पूरी तरह ग्रहण नहीं किया, उसकी गति मानववाद तक ही सीमित रही है। इसीलिए उसकी कविता भी सैद्धान्तिक नहीं बनी। कुल मिलाकर दिनकर देश-भक्त मानववादी है। पराधीनता के अभिशापों और शोषितों की पीड़ाओं से उसका शक्तिशाली व्यक्तित्व तड़प उठता है। परन्तु क्योंकि मुक्ति का कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता इसीलिए वह केवल हुंकार भर कर रह जाता है। वह उन सशक्त व्यक्तित्वों का उच्चार है जो देश की परतन्त्रता की विषमताओं का तो पूरी तरह अनुभव करते है, परन्तु सक्रिय राजनीति से दूर होने के कारण कुछ समाधान नहीं सोच पाते।

अब तक हमने इन तीनों कवियों के व्यक्तित्वों का विश्लेषण करते हुए उनकी रति और उत्साह की भावनाओं का विवेचन किया। अब एक कार्य शेष रह जाता है: उनके काव्य-गुण की परीक्षा। उसके लिए नए आलोचक क्षमा करें—हमारे पास वही पुरानी कसौटी है रस की। इनमें से एक कवि की क्रान्ति-भावना उचित दिशा को ग्रहण करने वाली है, दूसरे की क्रान्ति विपथगा है—यह सब-कुछ इस समय हमारे लिए मूल्य नहीं रखता। इसके लिए पुरस्कार या दण्ड देने का दायित्व इस समाज पर छोड़ते हैं। रस-परीक्षण के लिए तो केवल एक बात द्रष्टव्य है: इन कविताओं से आनन्द देने की शक्ति कहाँ तक है। अर्थात् उनके रचयिता कहाँ तक अपने व्यक्तित्वों का सफल अनुवाद कर सके है। और भी स्पष्ट शब्दों में, इनकी आत्माभिव्यक्ति कितनी सच्ची, कितनी तीव्र, कितनी गहरी, कितनी सबल एवं प्रौढ़ है।

इस कसौटी पर कसने पर एक ओर नरेन्द्र की वे गीतियाँ अत्यन्त सरस बन पड़ी है जो उनके जीवन के सहचर दिवा-स्वप्नों की मधुर सृष्टि है। दूसरी ओर उनके वे उद्गार—ज्येष्ठ का मध्याह्न, बन्दी, पापी आदि—भी स्वस्थ रस से परिपुष्ट है जो कवि की उस समय की मनोदशा की अभिव्यक्ति

है जब कि वे अपने रुग्ण मन के उपचार के लिए समाजवाद की 'प्राण-धारा' का सेवन कर रहे थे। इनके अतिरिक्त उनकी बहुत-सी कविताएँ, जैसे समाजवाद का प्रचार करने वाली रचनाएँ या विरह-गीतों की माला पूरी करने वाले गीत. काफ़ी साधारण स्तर की हैं। हिन्दी के कई कम प्रसिद्ध कवियों ने (उदाहरणार्थ, गिरजाकुमार माथुर ने) उनसे मधुरतर गीत-रचना की है।

अञ्चल के विषय में हमने अभी निवेदन किया कि उनमें अन्धड़ की शक्ति है। 'मधूलिका' और 'अपराजिता' को पढ़कर आप सहज ही इसका अनुभव कर लीजिए। इनमें जिस व्यक्तित्व का अनुवाद है उसकी शक्ति असंदिग्ध है, पर बौद्धिक सुलझाव उसके विचारों में प्रारम्भ से कम रहा है। इसलिए ये कविताएँ कुहर-धूमिल एवं रिक्त हैं। इन्हें पढ़ते हुए क्या पाठक यह अनुभव नहीं करता कि वह एक बवण्डर के बीच खड़ा हुआ है, जिसमें गर्द-गुबार और रङ्ग-बिरंगे फूल-पत्तों का मिला-जुला कुहराम मचा हुआ है. जो उसे झकझोर तो देता है पर कोई निश्चित प्रभाव नहीं डालता ? परन्तु अञ्चल ने निश्चय ही उन्नति की है। 'किरण-वेला' में आकर उनका दृष्टिकोण आवर्त्त-बद्ध नहीं रहा, उनकी बौद्धिक पकड़ सुलझ गई है, उनको एक दिशा मिल गई है। और उसके लिए सचमुच उन्हें प्रगतिवाद का आभार मानना चाहिए।

अञ्चल के आवेश और कल्पना दोनों में वेग है। पर उनको स्थिरता प्रदान करने वाली बौद्धिक शक्ति उनके पास कम है। इसीलिए भावगत कविताओं एवं अंतर्गीतों की अपेक्षा उनकी वस्तुगत कविताएँ, जिनमें वस्तु की रूप-रेखा और सीमाएँ निश्चित होने के कारण स्थैर्य आप-से-आप वर्तमान रहता है, कहीं-अधिक सफल और रस-पीन हैं। 'दानव', 'मजदूर की अन्धी लड़की', 'शोषिता' आदि हमारी गवाही देंगी। ये तीनों और इस प्रकार की कुछ अन्य कविताएँ भी अत्यन्त उच्च कोटि की हैं।

दिनकर का व्यक्तित्व इन दोनों की अपेक्षा अधिक शक्तिमान् है। उनके 'कम्बुघोष' में तो अधिक शक्ति है ही. 'वीणा-रव' में भी कम माधुरी नहीं। उनकी सर्वप्रथम काव्य-कृति है 'रेणुका'। उसकी कुछ कविताओं में देश की गौरव-भावनाओं का पवित्र जय-जयकार है जो मन में सात्विक रस का सञ्चार करता है। परन्तु अधिकतर रचनाएँ, मुख्यतः तो कवि-प्रतिभा का प्रथम स्फुरण होने के कारण और कुछ अंशों में बाहर के कतिपय नैतिक अथवा दूसरे शब्दों में असाहित्यिक प्रभावों के कारण, इतिवृत्त-प्रधान हो गई

है। दिनकर के व्यक्तित्व की सफलतम उद्भूतियाँ है 'हुंकार' और 'रसवन्ती' की विशिष्ट कविताएँ। एक में यदि इस ज्वालामुखी का उष्ण-तरल लावा है, तो दूसरी में उसके हृदय में गूँजती हुई बाँसुरी का रस-भीगा स्वर! दिनकर की कविता वहाँ असफल होती है जहाँ उसमें अनुभूति लुप्त हो जाने से एक खोखलापन शेष रह जाता है जो निस्सार बजता रहता है। यह दोष अञ्चल की 'मधूलिका' और 'अपराजिता' मे और भी भयङ्कर रूप में मिलता है। अस्तु!

अन्त मे दिनकर, अञ्चल और नरेन्द्र तीनों के काव्य का पूरी तरह अध्ययन कर लेने क उपरान्त हमे किसी प्रकार की निराशा नहीं हुई। ये कवि अपने पूर्ण यौवन की ओर स्वस्थ डगों से बढ़ रहे है और यौवन के द्वार तक पहुँच भी चुके है।"[१]

१. इस लेख के पूर्वार्ध मे मेरी लेखनी से मौज में आकर निरुद्देश्य ही कुछ छींटे पड़ गए हैं। ये छींटे फ्नेफ्थलीन के छीटों की तरह सर्वथा निर्दोष है, इसलिए मुझे इनके लिए कोई सफ़ाई नहीं देनी। फिर भी यदि इनसे किसी का मन मैला होता है तो उसमें मैं अपने को दोषी न मान सकूँगा।

: १२ :

आचार्य शुक्ल और डॉक्टर आइ० ए० रिचर्ड्स:

एक तुलनात्मक अध्ययन

कुछ दिन पहले जब विदेश के सौन्दर्य-शास्त्र का छाया-प्रभाव हिन्दी पर पड़ा और उसके फल-स्वरूप यहाँ कविता को स्वतन्त्र सत्ता मानते हुए उसके विषय में एक काल्पनिक-सी चर्चा होने लगी, उस समय शुक्लजी ने इस अनिचार के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण किया और अपने मत की पुष्टि के लिए विदेश के नवोत्थित आलोचक आइ. ए. रिचर्ड्स का गर्म उद्धरण पेश किया। रिचर्ड्स को भी अपने यहाँ कुछ ऐसा ही संघर्ष करना पड़ा था। परन्तु इन दोनों आलोचकों का विपक्ष सर्वथा भिन्न था। रिचर्ड्स को डॉक्टर ब्रैडले-जैसे समर्थ प्रतिपक्षी के विरुद्ध खड़ा होना था। शुक्लजी के प्रतिपक्षी हिन्दी के नये उत्साही कवि-लेखक थे जो अपने पैर जमाने के लिए अर्धगृहीत ज्ञान के बल पर सौन्दर्य-शास्त्र की शरण ले रहे थे। फिर भी शुक्लजी को रिचर्ड्स महोदय से थोड़ी सी सामयिक सहायता मिली और उन्हें उस ओर आकर्षण भी हुआ।

रिचर्ड्स का सीधा प्रभाव तो उन पर पड़ा नहीं, क्योंकि उस समय तक शुक्लजी की मानसिक आधार-भूमि पूर्णतः बन चुकी थी; फिर भी रिचर्ड्स के साथ शुक्लजी का तुलनात्मक अध्ययन काफ़ी मनोरञ्जक होगा, और इस तुलना से शुक्लजी का अपना व्यक्तित्व भी काफ़ी निखर आयगा।

कविता की परिभाषा

सबसे पहले कविता की परिभाषा लें।

शुक्लजी के अनुसार "कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।......

"जो कुछ ऊपर कहा गया उससे स्पष्ट है कि सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मक प्रकृति का सामञ्जस्य ही कविता का लक्ष्य है। वह जिस प्रकार प्रेम, क्रोध, करुणा, घृणा आदि मनोवेगों या मनोभावों पर सान

चढ़ाकर उन्हें तीक्ष्ण करती है उसी प्रकार जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उनका उचित सम्बन्ध स्थापित करने का उद्योग भी करती है।"

इस प्रकार शुक्लजी के अनुसार व्यक्ति और सृष्टि दो पृथक् सत्ताएँ हैं। इन दोनों सत्ताओं मे पारस्परिक सम्बन्ध होना आवश्यक है, और यह सम्बन्ध भावना का होना चाहिए। कविता इसका साधन है।

यह वास्तव मे शुक्लजी ने कविता के कर्त्तव्य-कर्म की व्याख्या की है कविता की नहीं, यह कविता का स्वरूप नहीं कविता का धर्म है। फिर भी इससे स्थापित होता है कि :

(१) कविता में भावना का प्राधान्य है; और

(२) कविता सत्य नहीं, साधन है।

रिचर्ड्स का भी कहना है कि "वस्तु का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व कुछ नहीं, हमें तो यह देखना है कि उसका कर्म क्या है ? लोग काव्य और काव्यमय की बात करते है, पर वास्तव में उन्हें सोचना चाहिए मूर्त्त अनुभूतियों के विषय में क्योंकि वे ही कविता है।"

इस प्रकार उनके अनुसार भी कविता एक मूर्त्त अनुभूति है। अर्थात् कविता सत्य नहीं अनुभूति—साधन—है। यह अनुभूति किसकी ? लेखक की या पाठक की ? मूल रूप में लेखक की, परन्तु व्यवहार रूप में पाठक की :

"कविता अनुभूतियों का एक वर्ग है। ये अनुभूतियाँ एक निश्चित—मौलिक—अनुभूति से विभिन्न होने के कारण अनेक रूप तो हैं, परन्तु उनके विभेद की एक सीमा है। यह निश्चित मौलिक अनुभूति है कविता रचते समय की लेखक की अपनी अनुभूति।"

अर्थात्—

(अ) दोनों की परिभाषा में कविता को सत्य-रूप में नहीं, क्रिया-रूप में ग्रहण किया गया है। शुक्लजी ने अपने स्वभाव के अनुसार उसकी उपयोगिता पर ज़ोर देते हुए उसे साधन माना है, रिचर्ड्स ने कोई ऐसी बात स्पष्ट रूप से नहीं कही, यद्यपि उस ओर संकेत अवश्य किया है।

(आ) कविता भाव-प्रधान है। भाव को शुक्लजी मनोवेग—मन का विकार—मानते हैं। यह विकार वाह्य प्रभाव-जन्य है, अर्थात् व्यक्ति पर सृष्टि की प्रतिक्रिया है—इसके आगे शुक्लजी मौन हैं। रिचर्ड्स वैज्ञानिक

है : वे और आगे जाते हैं और इस प्रतिक्रिया को स्नायवी भंकृति तक घटाते हुए उसकी शत-प्रति-शत भौतिक व्याख्या करते हैं।

(इ) कविता अनुभूति है, परन्तु यह अनुभूति जीवन से बाहर की अनुभूति नहीं जीवन-गत ही है। अर्थात् सौन्दर्य्यानुभूति का कोई स्वतन्त्र या पृथक् अस्तित्व नहीं।

कविता और जीवन

कला के लिए कला अथवा कविता के लिए कविता का सिद्धांत उन्हें सह्य नहीं है। इसलिए जहाँ तक ब्रैडले महोदय के इस सिद्धान्त का सम्बन्ध है कि :

"कला का रसास्वादन करने के लिए जीवन से कुछ भी हमें अपने साथ लाने की आवश्यकता नहीं है। उसके लिए न तो उसके व्यापारों या विचारों का ज्ञान और न उसके भावों से परिचय ही अपेक्षित है।......वह न तो इस संसार का एक अङ्ग है और न अनुकरण। वह तो स्वयं अपने ही में एक संसार है—स्वतन्त्र, सम्पूर्ण और स्वायत्त।"

इसके विरोध में वे दोनों अक्षरशः एकस्वर हैं। कला या कविता इस जीवन से बाहर की कोई अनुभूति है, उसका इस लोक से सम्बन्ध नहीं—यह मत न शुक्लजी को क्षण-भर के लिए ग्राह्य है और न रिचर्ड्स को।

इसका तात्पर्य यह है कि शुक्लजी और रिचर्ड्स दोनों काव्यानुभूति को साधारण मानते हैं। फिर भी थोड़ा अन्तर अवश्य है। शुक्लजी रिचर्ड्स की भांति कविता को मूर्त अनुभूति मानते हुए उसे स्नायवी क्रिया तक घटाने के लिए तैयार नहीं हैं। उनकी आधार-भूमि भारत के रस-सिद्धान्त से परिपुष्ट है, अतः लोकोत्तर आनन्द को कम-से-कम बौद्धिक रूप में वे अवश्य स्वीकार करते हैं :

"कविता मनुष्य के हृदय को उन्नत करती है और ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट अलौकिक पदार्थों का परिचय कराती है जिनके द्वारा यह लोक देवलोक और मनुष्य देवता हो सकता है।"

इस प्रकार शुक्लजी कविता की अलौकिकता को चीरकर बिलकुल अलग नहीं फेंक देते। पर रिचर्ड्स उसको गणित के तथ्य की भाँति सूक्ष्माति-सूक्ष्म अणुओं में विभक्त करते हुए अन्तिम रूप तक पहुँचने का व्यर्थ प्रयत्न करते हैं।

कविता का उद्देश्य

स्वभावतः कविता को दोनों सोद्देश्य मानते है और उद्देश्य के विषय में भी दोनों एक मत हैं।

शुक्लजी के अनुसार : "कविता मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना जातियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का सञ्चार होता है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार, तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"

इसी तरह रिचर्ड्स भी मानते हैं कि कविता का लक्ष्य है मानव संवेदनाओं का, न्यूनातिन्यून दमन करते हुए, समीकरण करना। संवेदनाओं का यह समीकरण ही शुक्लजी का अनुभूति-योग है, यही हृदय की मुक्तावस्था या रस-दशा है। शुक्लजी ने भारतीय दर्शन का रङ्ग चढ़ाकर इस दशा का आत्म-लीनता या विश्वास-भाव से एकीकरण कर दिया है, रिचर्ड्स समीकरण से आगे नहीं जाते।

मूल्याङ्कन

लक्ष्य का निश्चय मूल्याङ्कन की ओर इङ्गित करता है। कविता की कसौटी क्या है ? शुक्लजी के मत से सत् कविता के गुण इस प्रकार है:

१—रागों या मनोवेगों का परिष्कार करते हुए उनका सृष्टि के साथ उचित सामञ्जस्य स्थापित करना एवं जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करना।

२—कार्य में प्रवृत्त करना अर्थात् हमारे मनोवेगों को उच्छ्वसित करते हुए हमारे जीवन मे एक नया जीवन डाल देना।

३—मन को रमाते हुए स्वभाव-संशोधन तथा चरित्र-संशोधन करना। यह बात रागों के परिष्कार में आ जाती है।

रिचर्ड्स महोदय की धारणाएँ भी बहुत भिन्न नहीं है। जीवन के मूल्यों का देश-काल से घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करते हुए भी वे यह मानते हैं कि किसी वस्तु की मानव-भावना और इच्छा के परितोष करने की शक्ति ही उसके मूल्य की कसौटी है। इस परितोष के लिए आवश्यक है मनोवृत्तियों की

अन्विति जो मनुष्य के जीवन का सतत प्रयत्न रहा है । मनोवृत्तियाँ जितनी ही अधिक और महत्त्वपूर्ण होंगी उतना ही उस अन्विति का मूल्य होगा । इस प्रकार जीवन में समरसता लाने का प्रयत्न ही मानव-जीवन का शाश्वत कर्त्तव्य-कर्म है और यही उसके मूल्यांकन का भी मानदण्ड है । यह अन्विति : समरसता का प्रयत्न : अनजाने अवचेतन या अचेतन अवस्था में होती रहती है—प्रायः दूसरों के प्रभाववश, और इस प्रभाव का सर्वप्रमुख साधन हैं कला और साहित्य ।

आप देखें कि इस अन्विति और शुक्लजी के सिद्धान्त में—रागों या मनोवेगों का परिष्कार करते हुए उनका सृष्टि के साथ उचित सामञ्जस्य करना—कोई मौलिक भेद नहीं है । दोनों के मूल्यांकन की कसौटी रागों अथवा संवेदनाओं का परिष्कार और उनका उचित सामञ्जस्य ही है । रिचर्ड्स की उक्ति मे व्यक्ति की अपनी संवेदनाओं के उचित सामञ्जस्य अर्थात् आंतरिक सामञ्जस्य पर बल दिया गया है । शुक्लजी के कथन मे ऐसा प्रतीत होता है कि वे सृष्टि के साथ उनके सामञ्जस्य की अर्थात् अंतर्बाह्य सामञ्जस्य की बात अधिक करते है ।

परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि मूल सिद्धान्त की एकता होते हुए भी दोनों का प्रतिपादन काफ़ी भिन्न है । और यह विभेद वास्तव में दृष्टि-कोण का विभेद है ।

दृष्टिकोण

हमने देखा शुक्लजी और रिचर्ड्स दोनों का आर्डर : विधान में विश्वास हैं । परन्तु शुक्लजी का विधान जहाँ नैतिक है, रिचर्ड्स का एकदम वैज्ञानिक : मनोवैज्ञानिक । शुक्लजी सदाचार और सौन्दर्य का अभिन्न सम्बन्ध मानते है : "बात यह है कि कविता सौन्दर्य और सात्विकशीलता या कर्त्तव्य-परायणता में भेद नहीं देखना चाहती । ······जो धर्म मे शिव है काव्य में वही सुन्दर है ।" रिचर्ड्स स्पष्ट घोषित करते है कि नीति-सिद्धान्त प्रायः हमारे मानसिक सामञ्जस्य में बाधक होते है और साथ ही जीवन के विकास में भी । परन्तु यदि नीति का स्वरूप विकासशील है और देश-काल के अनुसार इस सामञ्जस्य में योग देता है तो नीति कला और साहित्य की साधक है । इस प्रकार शुक्लजी ने सुन्दरं का शिवं के साथ तादात्म्य कर दिया है; रिचर्ड्स

ने सत्य के साथ। शुक्लजी का आदर्श राम का आदर्श है: स्थिति-रक्षक का: रिचर्ड्स अन्वेषक है। इसीलिए दोनों कुछ दूर साथ चलकर पृथक् हो जाते हैं। शुक्लजी को निरपेक्ष मूल्यों में अटल विश्वास है—वे मर्यादावादी हैं। रिचर्ड्स एक सच्चे वैज्ञानिक अन्वेषक की भाँति विकासवादी हैं। स्वभावतः शुक्लजी का सत्य स्थिर सत्य है, रिचर्ड्स का गत्यात्मक।

यह बात दोनों की आनन्द की परिभाषा से और स्पष्ट हो जाती है। शुक्लजी आनन्द-दशा या रस-दशा को मुक्तावस्था मानते हैं। परन्तु रिचर्ड्स आनन्द को एक स्वतन्त्र मानसिक अवस्था नहीं मानते। वे तो उसे क्रिया को ग्रहण करने का एक प्रकार मानते हैं—एक प्रतिक्रिया-मात्र मानते हैं। वे कहते हैं: "हम आनन्द का अनुभव नहीं करते, हम तो उस अनुभूति का ही अनुभव करते हैं जो आनन्द-दायिनी है।" इस प्रकार आनन्द संवेदना का कोई रूप नहीं है, वह तो उसका एक परिणाम है अर्थात् मानसिक वृत्तियों का सामञ्जस्य स्थापित करने में उसकी सफलता का परिणाम है। वे आनन्द को साध्य नहीं केवल एक सूचना-चिह्न मानते हैं। मुख्य वस्तु, उनके अनुसार है क्रिया। आनन्द केवल यही सूचित करता है कि यह क्रिया सफल हो रही है।

बस, शुक्लजी और रिचर्ड्स के दृष्टिकोण मे गति का यही प्रमुख अन्तर है। शुक्लजी गति की एक सीमा मानते हैं। रिचर्ड्स जीवन को ही एक गति मानते हैं और गणितज्ञ की तरह आगे बढ़ते ही चले जाते हैं।

शैली

शैली दृष्टिकोण का ही प्रतिबिम्ब है। अतः रिचर्ड्स और शुक्लजी की आलोचना-शैली में उनके दृष्टिकोण के अनुसार ही समता-असमता है। जहाँ तक दोनों की बौद्धिकता का सम्बन्ध है, उनकी शैलियों में भी विचारों का प्राधान्य, एवं गवेषणा और उसके परिणाम-स्वरूप घनता तथा गम्भीरता मिलेगी। दोनों अध्यापक हैं। अतः दोनों की शैली विश्लेषणात्मक है। पर शुक्लजी, जैसा मैंने निवेदन किया, मर्यादावादी थे और रिचर्ड्स हैं विकास-वादी। इसलिए यह स्वाभाविक है कि शुक्लजी की शैली शास्त्रीय और रिचर्ड्स की वैज्ञानिक (मनोवैज्ञानिक) हो। शुक्लजी जहाँ बार-बार शास्त्र-परम्परा को पकड़ते हुए शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग करते हैं वहाँ रिचर्ड्स आग्रहपूर्वक उसका तिरस्कार। इसके अतिरिक्त एक और स्पष्ट अन्तर दोनों की शैली में मिलेगा। शुक्लजी की शैली में रस-मग्नता है, रिचर्ड्स की शैली में वैज्ञानिक

तथ्य-कथन-मात्र। कारण यह है कि शुक्लजी ने सुन्दरं का शिवं रूप लिया है इसलिये उनमें श्रद्धा की भावना ओत-प्रोत है। वे रस की निरपेक्ष सत्ता में विश्वास करते हैं। अतएव वे हमें स्थान-स्थान पर रसमग्न होते हुए दिखाई देते हैं। उनकी सहृदयता अद्वितीय थी, उनकी रसज्ञता इतनी तरल थी कि वे अवसर आने पर अवश्य बह जाते थे :

"निर्गुन कौन देस कौ बासी ?
मधुकर कहु समुझाय, सौंह दै बूझत साँच न हाँसी।"

कसम है, हम ठीक-ठीक पूछती है, हँसी नहीं, कि तुम्हारा निर्गुण कहाँ का रहने वाला है :

कुछ विनोद, कुछ चपलता, कुछ भोलापन, कुछ घनिष्ठता—कितनी बातें इस छोटे-से वाक्य से टपकती हैं !

ऐसे उद्धरण रसान्वेषी पाठक को शुक्ल-साहित्य में अनेक मिल जायँगे—केवल धारण-चित्रों को ले उड़ने वालों की बात हम नहीं कहते। यही रस-मग्नता उनकी वाणी को उच्छ्वसित कर देती है और विरोधी पाठक भी उसकी शक्ति से अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। प्रतिपादन की यह दुर्निवार शैली शुक्लजी की बहुत बड़ी विशेषता थी जो बुद्धि की दृढ़ता और हृदय के रस से परिपुष्ट थी। इसके विपरीत रिचर्ड्स में यह श्रद्धा की भावना दुर्लभ है। अतः वे कहीं रस-मग्न नहीं होते। रस-मग्नता शायद उनकी दृष्टि में आलोचना की दुर्बलता भी हो।

परिणाम

उपर्युक्त विवेचन से यह परिणाम निकालना कठिन न होगा कि :

१. शुक्लजी की अपेक्षा रिचर्ड्स अधिक मेधावी हैं। उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत तीखी और विवेचन अधिक मौलिक होता है। रिचर्ड्स की वैज्ञानिक दृष्टि जिस सूक्ष्म सत्य को सफाई से पकड़ लेती है, वह शुक्लजी की नैतिक दृष्टि के लिए कठिन होता है।

२. रिचर्ड्स का दृष्टिकोण कहीं अधिक व्यापक है। उनका सत्य गत्यात्मक है, शुक्लजी का स्थिर। इसलिए विषमताओं का समन्वय जिस सरलता से रिचर्ड्स कर लेते हैं, उस सरलता से शुक्लजी नहीं। इसी कारण

शुक्लजी बहुत शीघ्र ही समय से पीछे रह गये, रिचर्ड्स कभी नहीं रह सकते। वे टी० एस० इलियट की कविताओं का भी आदर हृदय खोलकर करते हैं, शुक्लजी को प्रसाद के साथ समझौता करने में भी कठिनाई पड़ी। कविता के लोक-पक्ष ने उन्हें इतना पकड़ रखा था कि रस की एकांत साधना उन्हें मुश्किल से ही ग्राह्य हो सकती थी। इसी कारण गीति-काव्य के प्रति शुक्लजी का भाव सदा कठोर ही रहा।

३. परन्तु सूक्ष्मता, व्यापकता और मौलिकता की क्षति शुक्लजी अपने विवेक, शक्ति और गाम्भीर्य के द्वारा पूरी कर लेते हैं। शुक्लजी प्राणवान् पुरुष थे: उनमें जीवन था, गति थी। यह गति संस्कारवश आगे को अधिक नहीं बढ़ी, इसलिए भीतर को बढ़ती गई और उसका परिणाम हुआ अतुल गाम्भीर्य और शक्ति। जो कुछ उन्होंने विस्तार में खोया वह गहराई में और घनता में पा लिया। समर्थ व्यक्ति अगर आगे को नहीं बढ़ता तो भीतर तो उसे बढ़ना ही है, वह बाह्य विस्तार को छोडकर जड़ों को गहरा और मजबूत करेगा—प्रेमचन्द और प्रसाद की तुलना इस अन्तर को स्पष्ट कर देगी। शुक्लजी समय के साथ आगे नहीं बढ़ सके। क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद और जर्मन दार्शनिकों के सौंदर्यशास्त्र की विशेषताओं को ग्रहण करने में वे असमर्थ रहे। परन्तु अपने रस-शास्त्र की शक्ति और सम्भावनाओं की वे निरन्तर छान-बीन करते रहे और इसके परिणामस्वरूप भारतीय रस-शास्त्र का जो मनोवैज्ञानिक विवेचन उन्होंने प्रस्तुत किया, वह भारत के आलोचना-साहित्य को हिन्दी का अमूल्य उपहार है।

दूसरे, कविता के लोकोत्तर आनन्द का तिरस्कार न करके, उसकी मिस्टरी को भी थोड़ा-बहुत स्वीकार करते हुए शुक्लजी ने अपने दृढ़ विवेक का परिचय दिया। इसके विपरीत रिचर्ड्स महोदय का विवेक अति के कारण अविवेक बन जाता है। इसका प्रमाण है 'कविता का विश्लेषण' परिच्छेद में दिया हुआ उनका रसास्वादन-सम्बन्धी चित्र। इस चित्र के द्वारा कविता के विश्लेषण का प्रयत्न 'कला कला के लिए है' सिद्धान्त की अपेक्षा कहीं अधिक हास्यास्पद है।

४. इसी कारण शुक्लजी की आलोचना में हमारे विश्वास को पकड़ने की क्षमता रिचर्ड्स की अपेक्षा कहीं अधिक है। शुक्लजी की जायसी, तुलसी, सूर, प्रसाद आदि की आलोचना में विरोधी को भी विजित करने की क्षमता

है। रिचर्ड्स ने सिद्धांत-विवेचन ही अधिक किया है. परन्तु हमारी धारणा है कि वे काव्य-विशेष का विवेचन बहुत सफल शायद नहीं कर सकते। उनका एकाध प्रयत्न इसका साक्षी है। इसका स्पष्ट कारण है रसमग्न होने की शक्ति का अभाव।

५. दोनों के दोष भी समान हैं। अपने मत का प्रतिपादन करते समय दोनों में एकांगिता, हठधर्मी और मताभिमान मिलता है जो विक्षोभ उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त रिचर्ड्स ने सत्य की अत्यधिक छानबीन के द्वारा और शुक्ल जी ने शिव का बोझ रखकर सुन्दर के सहज रस-बोध में थोड़ी-बहुत बाधा भी उपस्थित की है।

अन्त में, ऐतिहासिक महत्त्व को मैं बहुत बड़ा गौरव नहीं मानता। पर यदि उस पर दृष्टिपात किया जाय तो रिचर्ड्स और शुक्ल जी में कोई तुलना नहीं। यहाँ हमें यह न भूलना चाहिए कि रिचर्ड्स का जिस इतिहास से सम्बन्ध है, वह हमारे इतिहास की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित है। अतः उस पर प्रभाव डालना साधारण गौरव नहीं, और वह गौरव उनको प्राप्त भी है—इलियट-जैसे प्रौढ़ आलोचक ने उन्हें प्रवर्तकों में स्थान दिया है। फिर भी शुक्ल जी ने तो अपने युग को प्रभावित नहीं किया आच्छादित किया था।

वह देखी भीमा मूर्ति आज रण देखी जो।
आच्छादित किये हुए थी जो समग्र नभ को॥

: १३ :

आलोचना की आलोचना

१

आधुनिक आलोचना का युग वहाँ से प्रारम्भ होता है जहाँ आचार्य शुक्ल ने उसे ले जाकर स्थित कर दिया था। इस समय साहित्य के इस अङ्ग की यथोचित श्री-वृद्धि हो रही है : उसकी धारा अनेकमुखी होकर प्रवाहित हो रही है। एक प्रकार से यह युग ही आलोचना-प्रधान है। आज हृदय पर बुद्धि का शासन बढ़ रहा है : हमारा दृष्टिकोण दार्शनिक, नैतिक अथवा भाव-प्रधान न रहकर बहुत-कुछ बौद्धिक होता जा रहा है। इसीलिए आज का सभी साहित्य—कविता भी—आलोचना-प्रधान है। ऐसी दशा में प्रवृत्तियों की निश्चित सीमाएँ बाँधना तो दुष्कर है, फिर भी कुछ-एक की ओर सङ्केत किया जा सकता है।

सबसे पहले तो हमें शास्त्रीय आलोचना-पद्धति मिलती है। इसके प्रतिनिधि हैं पं० कृष्णशङ्कर शुक्ल, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बाबू गुलाबराय, डा० रामकुमार वर्मा, डा० सत्येन्द्र और प्रो० शिलीमुख। ये सज्जन सभी उच्च-शिक्षा से सीधा सम्पर्क रखने वाले अध्यापक हैं। इनकी शैली में काव्य-वस्तु की अन्तर्वृत्तियों के विश्लेषण की प्रवृत्ति पायी जाती है। स्वभावतः यह वर्ग विश्लेषणात्मक आलोचना का पोषक है। ये आलोचक समालोचना को भावुकता की क्रीड़ा नहीं समझते : वे तो गम्भीर अध्ययन, विवेचन और स्पष्ट विश्लेषण को ही प्रधानता देते हैं। साहित्य के निश्चित-सिद्धान्तों में उनका अटल विश्वास है। साहित्यिक मान अटल हैं, उनकी व्याख्या का स्वरूप चाहे कितना ही भिन्न हो जाय—ऐसी इन विद्वानों की ध्रुव-धारणा है। इन सभी में प्राच्य और पाश्चात्य आलोचना-पद्धतियों का सम्मिश्रण मिलेगा। ये लोग शुक्ल जी की रस-पद्धति के अनुसार रस, भाव, विभाव, अनुभाव आदि की विवेचना पाश्चात्य शैली से करते हैं। अर्थात् उनका विवेचन रूढ़ि-रूप में न करके मनोविज्ञानिक दृष्टि से ही करते हैं।

इनका सबसे बड़ा गुण न्याय-संगत निष्पक्षता है। इनमें शुक्लजी की-सी गम्भीरता और घनता नहीं है, अतः उनकी शुष्कता और हठवादिता भी नहीं है। यह आलोचना कभी-कभी किताबी हो जाने से जीवन से दूर पड़ जाती है।

यही शास्त्रीय पद्धति कुछ स्वतन्त्र भावुक लेखकों में एक नवीन रूप धारण कर लेती है। उपर्युक्त लेखकों का आधार और विवेचन दोनों ही साहित्यिक हैं, इनका आधार प्रधान रूप से दार्शनिक है; और विवेचना में चिन्ता, कल्पना और भावुकता तीनों का योग रहता है। अतः यह आलोचना बहुत अंशों तक सृजनात्मक है। इसमें वस्तु का तार्किक विश्लेषण नहीं होता, परन्तु काव्य के अन्तर में प्रवेश करने वाली एक नुकीली दृष्टि प्रायः मिलती है। साहित्य को ये विद्वान् एक चिरन्तन सत्य मानते हैं। जिसकी अन्तर्धारा युग-युग की आत्मा में होकर निरवच्छिन्न बहती है। युग-धर्म का प्रभाव केवल उसकी अभिव्यक्ति के स्वरूप पर ही पड़ता है, आत्मा का शुद्ध-बुद्ध रस प्रभावातीत है। इसलिए साहित्य का युग-धर्म से सहज-सम्बन्ध मानते हुए भी ये उसको केवल युग-धर्म की सृष्टि नहीं मानते। ये लोग जिस सिद्धान्त को लेकर चलते हैं वह अत्यन्त गहन, सूक्ष्म और मौलिक है। अतः उसके लिए अन्तर्प्रवेशिनी तत्त्व-दृष्टि सर्वथा अनिवार्य है। साथ ही जिस आधार पर ये आलोचक खड़ा होना चाहते हैं वह निश्चित रूप से दृढ़ होना चाहिए। क्योंकि इसके बिना विवेचन स्वच्छ और स्पष्ट नहीं हो सकता—उसमें एक विचित्र उलझन और लपेट आ जाती है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का भाषण मेरे कथन का जीवित प्रमाण है। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, और रामनाथ 'सुमन' की आलोचनाओं में मूलाधार की यह एकता स्पष्ट है।

इस आलोचना-पद्धति का प्रमुख दूषण यह है कि वह वस्तु से प्रायः स्वतन्त्र हो जाती है और स्वभावतः फ़ार्म का तिरस्कार करती है।

इसी प्रवृत्ति की सीधी प्रतिक्रिया हमें हिन्दी के उन आलोचकों में मिलती है जो साहित्य को युग की सृष्टि और आवश्यकता मानते हैं। इनका दृष्टिकोण सर्वथा सामाजिक (भौतिक) है। मार्क्स का यह सिद्धान्त कि मानव-मस्तिष्क की प्रत्येक क्रिया की व्याख्या पदार्थ के अनुसार की जा सकती है, इनका मौलिक आधार है। ये जिस प्रकार व्यक्ति को समाज की सृष्टि और

उसका एक अविभाज्य अंग मानते हैं, इसी प्रकार साहित्य को भी समाजशास्त्र के मानदण्ड से परखते हैं। स्वभाव से, इनके दृष्टिकोण में सघन बौद्धिकता है; भावुकता—कम-से-कम भावावेश का पूर्ण रूप से बहिष्कार है। विदेश के आधुनिक साहित्य और उसकी वर्तमान बुद्धि-पूजा का इन लोगों पर गहरा प्रभाव है, और ये आलोचक स्वयं उन प्रवृत्तियों का अच्छा ज्ञान रखते हैं। अभी इनका साहित्य परिमाण मे बहुत क्षीण है। परन्तु वह कुछ ऐसी बौद्धिक शक्ति लेकर आया है कि लोग चौंक-से पड़े हैं। हिन्दी मे यह 'प्रगति' की ही चेतना की एक सशक्त अभिव्यक्ति है। अज्ञेय, रामविलास शर्मा और शिवदानसिंह चौहान के फुटकर लेख इस प्रकार की आलोचना का पुरस्कार हैं। इनकी आलोचना का दोष उसकी एकांगिता है। उदाहरण के लिए देखिये रामविलास शर्मा का शरच्चन्द्र पर लिखा हुआ लेख।

चौथी श्रेणी में—(यह श्रेणी 'तोष श्रेणी' नहीं है)—वे आलोचक आते हैं जिनको हम प्रभाववादी कह सकते हैं।

इन आलोचकों का ध्येय विश्लेषण या अन्तर्प्रवृत्तियों की गवेषणा नहीं होता। किसी ग्रन्थ अथवा कृति को पढ़कर इनके मन पर जैसा प्रभाव पड़ता है, उसको वैसा ही अङ्कित कर देना इनकी विशेषता है। यह आलोचना अपने मूल रूप से फैशनेबिल है और एक अत्यन्त संस्कृत रुचि और सूक्ष्म-कोमल पकड़ की अपेक्षा करती है; तभी लेखक की धारणाएँ विश्वास-योग्य और कान्तिमान् हो सकती हैं, तभी उनका महत्त्व है। यह तो स्पष्ट ही है कि इस प्रकार की आलोचना अपने सुन्दरतम रूप मे भी गहन, साङ्ग, एवं क्रमबद्ध नहीं हो सकती : पाठक की उत्सुकता को जागृत करने के अतिरिक्त उसके ज्ञान में विशेष परिवृद्धि नहीं कर सकती। साथ ही इसमें निष्कपट मत-प्रदर्शन ही सब कुछ है, अतः ईमानदारी की भी बड़ी जरूरत है। अनधिकारियों के हाथ में पड़कर—और ऐसा आज प्रायः हो रहा है क्योंकि आलोचना की यह पद्धति सबसे सीधी और सरल है—यह शैली विक्षोभ और घृणा उत्पन्न करती है।

इस प्रसंग में केवल एक ही नाम उल्लेख्य है—प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, जो सिद्धान्त रूप से तीसरे वर्ग के सहयोगी होने पर भी व्यवहार में एकान्त प्रभाववादी हैं।

आज हमारी आलोचना इन्हीं सरणियों में होकर बह रही है।

कुछ पण्डित रिसर्च और साहित्य-शास्त्र के विवेचन में भी परिश्रम कर रहे हैं। डॉक्टर बड़थ्वाल की निर्गुण काव्य-सम्बन्धी खोज और डॉक्टर माताप्रसाद, डॉक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र, श्री सद्गुरुशरण अवस्थी की तुलसी-विषयक खोजें अपना महत्त्व रखती हैं। पर ये आलोचक प्रौढ़ पाण्डित्य के भार को लिए हुए रस की धारा से कुछ दूर चले जाते हैं।

साहित्य-शास्त्र में भी नवीन और प्राचीन तथा पाश्चात्य एवं प्राच्य रीति-शास्त्रों का अध्ययन थोड़ा-बहुत चल ही रहा है। सुधांशुजी ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद, और इलाचन्द्र जोशी ने एडलर के मनोविश्लेषण की व्याख्या की है। ये दोनों व्याख्याएँ अपने प्रारम्भिक रूप में ही हैं: लेखक अपने विषय को अधिक सुथरा नहीं बना सके।

इधर स्वर्गीय प्रसादजी और सुश्री महादेवी ने काव्य और कला की भारतीय दृष्टि से सर्वथा मौलिक विवेचना की है। डॉ० भगवानदास तथा बाबू गुलाबराय ने भारतीय रस-शास्त्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है, और सुधांशुजी ने जीवन की पृष्ठ-भूमि पर काव्य के तत्त्वों का स्पष्टीकरण। प्रेमचन्दजी ने भी साहित्य और उसके कथा-भाग पर अत्यन्त सुथरे विचार प्रकट किये हैं।

इस प्रकार आज हिन्दी का आलोचना-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। उपर्युक्त प्रमुख लेखकों के अतिरिक्त हिन्दी में ऐसे कई उदीयमान आलोचक काम कर रहे हैं जिनका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल प्रतीत होता है। गत चार-पाँच वर्षों में हिन्दी-पाठक की विवेचना-शक्ति और उसका निर्णय कितना विवेक-सम्मत एवं बुद्धि-परक हो गया है इसका अनुमान 'साहित्य-सन्देश', 'विशाल-भारत', 'हंस' और 'वीणा' के साधारण-से-साधारण लेख को पढ़कर ही किया जा सकता है।

आज केवल एक खतरा है—बढ़ती हुई एकांगिता का, जो दूसरे पक्ष की ओर असहनशील होती चली जा रही है। वस्तुतः विभिन्नता जीवन-प्राचुर्य की द्योतक है। हमें उसका स्वागत करना चाहिए। आलोचक रसज्ञ-व्याख्याता है। रस को ग्रहण करना और अपनी शक्ति एवं मेधा के अनुसार दूसरों को सुलभ करना ही उसका कर्त्तव्य-कर्म है। फिर वह नियामक या नियंता होने का दम्भ क्यों करे?

१४

आधुनिक काव्य के आलोचक

पहला चरण

["इनके—छायावादी कवियों के—भाव झूठे, इनकी भाषा झूठी, इनके छन्द झूठे, इनके अलङ्कार झूठे...... !"]

आधुनिक काव्य का आरम्भ १९२२-१९२३ से समझना चाहिए—जब प्रसाद, पन्त और निराला की कविताएँ प्रभूत संख्या में प्रकाशित होकर हिन्दी-जनता का ध्यान बरबस आकर्षित करने लग गई थीं। यह द्विवेदी-युग का अन्तिम चरण था। इस समय काव्य का अधिनायकत्व उन लोगों के हाथ में था जो दृढ़ नैतिक एवं शास्त्रीय मानों को मूल्यांकन का साधन बनाए हुए थे। द्विवेदीजी स्वयं, पं० पद्मसिंह शर्मा और ला० भगवानदीन इनमें मुख्य थे। ये विद्वान् सामाजिक क्षेत्र मे भारतीय नीति-शस्त्र को जिस दृढ़ता से पकड़े हुए थे, काव्य-क्षेत्र में भारतीय साहित्य-शास्त्र का आधार भी इनका उतना ही दृढ़ था। अभी विदेशी रीति-नीति से इनका सम्पर्क नहीं था और जो था भी केवल प्रतिक्रिया के रूप में ही। अतएव अपने को पूरे बल से पकड़े रहने के कारण, साथ ही दृष्टि-क्षेत्र सीमित होने से, इन उस्तादों में अतर्क्य आत्म-विश्वास आ गया था जिसका उपयोग वे कठोरता से करते थे। ऐसी परिस्थिति में अपनी हीनता से संकुचित छायावाद का जन्म हुआ।

छायावाद के अन्तर्बाह्य-निर्माण मे विदेश का प्रभाव अति स्पष्ट था। अतः इस नवजात शिशु को दोग़ला समझकर नीति-विशारदों ने चारों ओर से उस पर प्रहार किये। बस, उसके जन्म, उसके शरीर, उसके रङ्ग-रूप, उसकी वसन-सज्जा को एक साथ अवैध घोषित कर दिया गया। उस समय छायावाद का रूप अनिश्चित था। उसमें अति हो रही थी, यह सत्य है। परन्तु ये आत्म-विश्वासी विद्वान् उल्टे उस्तरे से उसकी हजामत बना रहे थे, इसमें भी सन्देह नहीं। अङ्गरेज़ी रोमांटिक कविता के (जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव छायावाद पर पड़ रहा था) स्वरूप, उसकी अनुभूति-अभिव्यक्ति एवं उसके महत्त्व से ये

लोग अपरिचित थे; और पुराने साहित्य-शास्त्र के स्थूल नियमों द्वारा उसे परखने का अनुचित प्रयत्न कर रहे थे। इसलिए पन्त की मधुर कोमल कला में, प्रसाद की गहरी जिज्ञासामयी अनुभूति में, अथवा निराला के निर्मुक्त कल्पना-प्रवाह में उन्हें कोई सौन्दर्य नहीं दिखाई दिया, यह आश्चर्य की बात नहीं।

इस युग में छायावाद की पीठ थपथपाने वाले आलोचक केवल मिश्र-बन्धु थे, जिनकी आलोचनात्मक दृष्टि चाहे-जैसी अस्थिर रही हो पर व्यापक अवश्य थी। विदेशी साहित्य के अध्ययन से उनके मन में उदारता आ गई थी। इसी कारण वे नवीनता और विविधता का स्वागत करने की क्षमता रखते थे। फिर भी आधुनिक काव्य की आलोचना का रूप अपने शैशव-काल में पूर्णतया भ्रान्त रहा।

दूसरा चरण

["छायावाद की कविता में सबसे अधिक खटकने वाली बात उसके भावों की अप्रसादकता है। इस संसार के उस पार जो जीवन है उसका रहस्य जान लेना सबके लिए सुगम नहीं। पर इस कारण निराश होने की आवश्यकता नहीं। समय के प्रभाव से जब यह प्रवाह संयत प्रणालियों में चलने लगेगा तब हिन्दी कविता का यह नवीन विकास बड़ा मनोरम होगा।"]

इसके उपरान्त आचार्य शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने आलोचना-क्षेत्र में पदार्पण किया। इस समय तक छायावाद अपनी जड़ें जमा चुका था। उसका यौवन अपनी रङ्गीनी से जगमगा उठा था: 'पल्लव', 'परिमल', 'आँसू' प्रकाशित हो चुके थे। फिर भी अभी वह नव-शिक्षितों की ही वस्तु थी, पण्डितों की नहीं। पण्डितों का भाव उसके प्रति त्योरी का ही था; और यह भावना मूर्तिमन्त हो उठी थी आचार्य शुक्ल में, जिन्होंने बहुत शीघ्र ही इस युग की आलोचनात्मक शक्तियों को अपने में केन्द्रित कर लिया था।

शुक्लजी की प्रतिभा अपरिमेय थी। उनकी दृष्टि में अद्भुत गहराई, पकड़ में ग़ज़ब की मजबूती, और प्रतिपादन में अपूर्व प्रौढ़ता थी। साथ ही उन्होंने पाश्चात्य एवं पौरस्त्य साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन किया था।

अतः उन्होंने जो छायावाद पर प्रहार किये वे काफ़ी समझ-बूझकर किये। छायावाद पर पड़े हुए बाह्य प्रभावों के विषय में वे एक दम निर्भ्रान्त थे। उन्होंने विदेश की रोमांटिक कविता, सौन्दर्य-शास्त्र, अभिव्यञ्जनावाद, और बङ्गला के रवीन्द्रनाथ के प्रभावों का अपने ढङ्ग से विवेचन किया। शुक्लजी ने स्वदेश-विदेश की आलोचना-पद्धतियों का मनन करने के उपरांत अपने काव्य-सिद्धांत स्थिर किये थे, जिन पर वे अन्त तक अटल रहे। ये सिद्धान्त यद्यपि अब तक के सभी सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक मनोवैज्ञानिक और तर्क-सङ्गत थे, परन्तु इनका मानसिक आधार नैतिकता के ऊपर ही टिका हुआ था। कारण यह है कि शुक्लजी के व्यक्तित्व का निर्माण बहुत-कुछ सुधार-युग में हो चुका था, अतः उनके ये संस्कार विदेशी शिक्षा-दीक्षा के बीच भी जड़ पकड़े रहे। यहाँ यह स्वीकार करना उचित होगा कि नीति (शिव) का मनोविज्ञान (सत्य) एवं सौन्दर्य-शास्त्र (सुन्दर) के साथ जितना सामञ्जस्य सम्भव था, उतना शुक्लजी ने कुशलता से एक मर्मज्ञ आचार्य की भाँति किया। फिर भी छायावाद तो एकदम अनीति (?) की राह पर था : वह तो काव्य को काव्य के लिए मानता था! अतः आचार्य मरते दम तक उससे समझौता न कर सके।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी आनुषङ्गिक कारण थे—

१. शुक्लजी काव्यानन्द को एक निश्चित, साधारण अनुभूति मानते थे। इसके विपरीत छायावाद सौन्दर्यानन्द को एक स्वतन्त्र एवं असाधारण अनुभूति मानता था।

२. शुक्लजी काव्य के क्षेत्र में भी सगुणोपासक थे। वे व्यक्त एवं मूर्त अनुभूति को ही महत्त्व देते थे। परन्तु छायावाद में अमूर्त एवं अर्धव्यक्त अनुभूतियों का विशेष मान था, उसमें अवचेतन की प्रधानता थी।

३. शुक्लजी का दृष्टिकोण एकान्त बौद्धिक और विवेक-सम्मत था। छायावाद बौद्धिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी, इसमें रहस्य और अद्भुत की जिज्ञासा थी जो कुछ अंशों में अवश्य विवेकशीलता की समझ से बाहर थी।

४. शुक्लजी काव्य-शक्ति के पूर्ण विकास के लिए जीवन-काव्य को ही उपयुक्त मानते थे; छायावाद स्फुट-गीतियों का भण्डार था।

५. छायावाद की अभिव्यञ्जना में भी असाधारणता, विशेषकर लक्षणा का दुरुपयोग, देखकर वे चिढ़ गए थे।

बाद में समय का प्रमाण-पत्र मिलने के उपरान्त आचार्य की दृष्टि तो बदली परन्तु दृष्टिकोण नहीं बदला। अतः छायावाद के कवियों की प्रशंसा भी उन्होंने अपने सिद्धाँतों के ही अनुसार की। उन्होंने उनकी अनुभूति की अपेक्षा अभिव्यक्ति को ही अधिक दाद दी—ठीक जैसा सूर के साथ किया है। यही उनका विश्वास था, यही उनकी शक्ति थी।

शक्ति सर्वाङ्गीण नहीं होती : वह सर्वत्र ही अपना एकसा प्रभाव नहीं दिखा सकती। इस रूप मे उसको देखना भी भूल है, उसकी तो घनता देखिये। आज यही बात न सोचकर हम लोग घनीभूत-पाण्डित्य उस आचार्य को 'रिप वांन विंकिल' आदि उपाधियाँ प्रदान कर अपनी कृतज्ञता का परिचय दे रहे हैं। प्रत्यक्ष रूप मे चाहे शुक्लजी ने आधुनिक काव्य का मार्गावरोध किया हो, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में उनका प्रभाव स्वस्थ ही रहा। निराला और प्रसाद जैसे शक्ति-स्रोतों से निस्सृत इस छायावाद-प्रवाह को उचित गति और स्थिर वेग देने के लिए आचार्य शुक्ल जैसे चट्टान की ही आवश्यकता थी।

बाबू श्यामसुन्दरदास में समझौते की प्रवृत्ति आरम्भ से ही रही है। इसका कारण है उनका अपेक्षाकृत विस्तृत कार्य-क्षेत्र। बाबूसाहब ने कृपा-पूर्वक इन कवियों का उल्लेख अपने इतिहास में किया और बहुत ही शिष्ट एवं विवेकयुक्त शब्दों में अपना आक्षेप भी व्यक्त किया :

"छायावाद की कविता मे सबसे खटकने वाली बात उसके भावों की अप्रसादकता है। इस संसार के उस पार जो जीवन है उसका रहस्य जान-लेना सब के लिये सुगम नहीं है। दार्शनिक सिद्धांतों की अनुभूति भी सब का काम नहीं।"

बाबूसाहब का यह दृष्टिकोण उस समय के भ्रान्त दृष्टिकोण का दर्पण है। सचमुच उस समय तक आलोचक छायावाद और रहस्यवाद के बीच अन्तर स्पष्ट नहीं कर सके थे। उन्हें यह भी निश्चित नहीं था कि दोनों में अन्तर है भी या नहीं। प्राय: छायावाद को रहस्यवाद से एक रूप करते हुए वे लोग उसको विकृत रूप में देख रहे थे। हरिऔधजी लिखित 'नीहार' की भूमिका इसका प्रमाण है। साथ ही कवि स्वयं भी रहस्यवादी आवरण को मोह-पूर्वक धारण करना चाहते थे। सचमुच यह भ्रम बहुत दूर तक चला है। अभी कुछ दिन पूर्व ही अपने एक रहस्यवादी मित्र को यह कहते हुए सुनकर मैं दंग रह

अतः उन्होंने जो छायावाद पर प्रहार किये वे काफ़ी समझ-बूझकर किये। छायावाद पर पड़े हुए बाह्य प्रभावों के विषय में वे एक दम निर्भ्रान्त थे। उन्होंने विदेश की रोमांटिक कविता, सौन्दर्य-शास्त्र, अभिव्यञ्जनावाद, और बङ्गला के रवीन्द्रनाथ के प्रभावों का अपने ढङ्ग से विवेचन किया। शुक्लजी ने स्वदेश-विदेश की आलोचना-पद्धतियों का मनन करने के उपरांत अपने काव्य-सिद्धांत स्थिर किये थे, जिन पर वे अन्त तक अटल रहे। ये सिद्धान्त यद्यपि अब तक के सभी सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक मनोवैज्ञानिक और तर्क-सङ्गत थे, परन्तु इनका मानसिक आधार नैतिकता के ऊपर ही टिका हुआ था। कारण यह है कि शुक्लजी के व्यक्तित्व का निर्माण बहुत-कुछ सुधार-युग में हो चुका था, अतः उनके ये संस्कार विदेशी शिक्षा-दीक्षा के बीच भी जड़ पकड़े रहे। यहाँ यह स्वीकार करना उचित होगा कि नीति (शिव) का मनोविज्ञान (सत्य) एवं सौन्दर्य-शास्त्र (सुन्दर) के साथ जितना सामञ्जस्य सम्भव था, उतना शुक्लजी ने कुशलता से एक मर्मज्ञ आचार्य की भाँति किया। फिर भी छायावाद तो एकदम अनीति (?) की राह पर था : वह तो काव्य को काव्य के लिए मानता था! अतः आचार्य मरते दम तक उससे समझौता न कर सके।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी आनुषङ्गिक कारण थे—

१. शुक्लजी काव्यानन्द को एक निश्चित, साधारण अनुभूति मानते थे। इसके विपरीत छायावाद सौन्दर्यानन्द को एक स्वतन्त्र एवं असाधारण अनुभूति मानता था।

२. शुक्लजी काव्य के क्षेत्र में भी सगुणोपासक थे। वे व्यक्त एवं मूर्त अनुभूति को ही महत्त्व देते थे। परन्तु छायावाद में अमूर्त एवं अर्धव्यक्त अनुभूतियों का विशेष मान था, उसमें अवचेतन की प्रधानता थी।

३. शुक्लजी का दृष्टिकोण एकान्त बौद्धिक और विवेक-सम्मत था। छायावाद बौद्धिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी, इसमें रहस्य और अद्भुत की जिज्ञासा थी जो कुछ अंशों में अवश्य विवेकशीलता की समझ से बाहर थी।

४. शुक्लजी काव्य-शक्ति के पूर्ण विकास के लिए जीवन-काव्य को ही उपयुक्त मानते थे; छायावाद स्फुट-गीतियों का भण्डार था।

५. छायावाद की अभिव्यञ्जना में भी असाधारणता, विशेषकर लक्षणा का दुरुपयोग, देखकर वे चिढ़ गए थे।

बाद में समय का प्रमाण-पत्र मिलने के उपरान्त आचार्य की दृष्टि तो बदली परन्तु ृष्टिकोण नहीं बदला । अतः छायावाद के कवियों की प्रशंसा भी उन्होंने अपने सिद्धाँतों के ही अनुसार की। उन्होंने उनकी अनुभूति की अपेक्षा अभिव्यक्ति को ही अधिक दाद दी—ठीक जैसा सूर के साथ किया है। यही उनका विश्वास था, यही उनकी शक्ति थी।

शक्ति सर्वाङ्गीण नहीं होती : वह सर्वत्र ही अपना एकसा प्रभाव नहीं दिखा सकती। इस रूप मे उसको देखना भी भूल है, उसकी तो घनता देखिये। आज यही बात न सोचकर हम लोग घनीभूत-पाण्डित्य उस आचार्य को 'रिप वांन विंकिल' आदि उपाधियाँ प्रदान कर अपनी कृतज्ञता का परिचय दे रहे हैं। प्रत्यक्ष रूप मे चाहे शुक्लजी ने आधुनिक काव्य का मार्गावरोध किया हो, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप मे उनका प्रभाव स्वस्थ ही रहा। निराला और प्रसाद जैसे शक्ति-स्रोतों से निस्सृत इस छायावाद-प्रवाह को उचित गति और स्थिर वेग देने के लिए आचार्य शुक्ल जैसे चट्टान की ही आवश्यकता थी।

बाबू श्यामसुन्दरदास में समझौते की प्रवृत्ति आरम्भ से ही रही है। इसका कारण है उनका अपेक्षाकृत विस्तृत कार्य-क्षेत्र। बाबूसाहब ने कृपा-पूर्वक इन कवियों का उल्लेख अपने इतिहास में किया और बहुत ही शिष्ट एवं विवेकयुक्त शब्दों में अपना आक्षेप भी व्यक्त किया :

"छायावाद की कविता में सबसे खटकने वाली बात उसके भावों की अप्रसादकता है। इस संसार के उस पार जो जीवन है उसका रहस्य जान-लेना सब के लिये सुगम नही है। दार्शनिक सिद्धांतों की अनुभूति भी सब का काम नहीं।"

बाबूसाहब का यह दृष्टिकोण उस समय के भ्रान्त दृष्टिकोण का दर्पण है। सचमुच उस समय तक आलोचक छायावाद और रहस्यवाद के बीच अन्तर स्पष्ट नहीं कर सके थे। उन्हें यह भी निश्चित नहीं था कि दोनों में अन्तर है भी या नहीं। प्राय: छायावाद को रहस्यवाद से एक रूप करते हुए वे लोग उसको विकृत रूप में देख रहे थे। हरिऔधजी लिखित 'नीहार' की भूमिका इसका प्रमाण है। साथ ही कवि स्वयं भी रहस्यवादी आवरण को मोह-पूर्वक धारण करना चाहते थे। सचमुच यह भ्रम बहुत दूर तक चला है। अभी कुछ दिन पूर्व ही अपने एक रहस्यवादी मित्र को यह कहते हुए सुनकर मैं दंग रह

गया कि आपको कैसे मालूम कि हमारे जीवन में साधना नहीं है ? ऐसी दशा में उस समय के विद्वान्. जो काल-सीमाओं से आबद्ध थे, यदि इन रेखाओं को स्पष्ट न कर सके तो क्या आश्चर्य !

इन्हीं दिनों बख्शीजी भी साहित्य-क्षेत्र के मध्य में आसीन थे। बख्शीजी का विदेशी साहित्य का व्यापक अध्ययन था। वैसे तो यह विशेषता पिछले दो विद्वानों में भी थी, परन्तु उनकी अपेक्षा बख्शीजी एक कदम और आगे बढ़ गये थे। उन्होंने विदेशी साहित्य की कल्चर को भी ग्रहण कर लिया था। इस कारण उनकी दृष्टि उदार थी, उसमे स्नॉबरी नहीं रह गई थी। उन्होंने छायावाद के काव्य-गुण को पहचानते हुए ही उसका आदर किया, उसे आश्रय-मात्र नहीं दिया। परन्तु छायावाद और रहस्यवाद के अन्तर का स्वरूप बख्शीजी भी व्यक्त न कर सके, यद्यपि उसके अस्तित्व के विषय में इन्हें कोई भ्रम नहीं था।

इस प्रकार दूसरे चरण में भी छायावाद की रूपरेखा स्पष्ट न हो सकी उसका मूल्यांकन तो दूर रहा। इस समय तक केवल एक ही लेख ऐसा लिखा गया था जिसका महत्त्व आज भी अक्षुण्ण है। यह थी स्वयं कवि पंत की लिखी हुई 'पल्लव' की भूमिका, जिसमें छायावाद के बाह्य उपादानों की—शब्द, व्याकरण, छन्द आदि की सुलझी हुई मौलिक व्याख्या थी। हिन्दी का आलोचक शब्दों की केवल अर्थ-व्यञ्जना से ही परिचित था। पंतजी ने हिन्दी में पहली बार उनकी स्वर-व्यञ्जना के रहस्यों का विवेचन करते हुए सौंदर्यालोचन में मौलिक श्री-वृद्धि की। छायावाद की कला के विवेचन में यह भूमिका सदैव ही आलोचकों की पथ-प्रदर्शिका रही है। अन्तरात्मा का विश्लेषण अब भी अछूता था।

तीसरा चरण

["इस (छायावाद) को हम पं० रामचन्द्र शुक्लजी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें नूतन सांस्कृतिक मनोभावनाओं का उद्गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और गहराई है।"]

छायावाद का अब एक व्यापक प्रभाव था। उसका जादू हरिऔध और

मैथिलीशरण के सर पर चढ़कर बोल रहा था। अब उसे आलोचकों के कृपा-कटाक्ष की अपेक्षा नहीं थी। अब तो आलोचक स्वयं उसी के सहारे अपनी शक्ति आज़माने की अभिलाषा करते थे। प्रसाद और पन्त की सर्व-मान्यता असंदिग्ध थी—प्रसाद की, उनकी करुण अनुभूति भाव-विलास के कारण; और पंत की, उनकी सूक्ष्म-कोमल माधुरी एवं कला-विलास के कारण। महादेवी ने गीति-शैली को अपना लिया था। अनगढ़े लोक-गीतों के ढाँचे में नवीन भावना और नवीन रूप-रङ्ग भरकर उन्होंने हिन्दी-संसार को मोह-मुग्ध कर लिया था। निराला का स्थान इस समय तक संदिग्ध था। उनकी अबाध प्रतिभा एवं एकान्त विरोधी स्वर अभी लोगों के हृदय में नहीं बैठ सके थे—यद्यपि कुछ लोग आतङ्कित अवश्य हो गए थे।

तभी श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का शुभागमन हुआ। हिन्दी का यह पहला आलोचक था जिसने निर्भीक और निर्भ्रान्त होकर छायावाद के महत्व को स्वीकृत और अधिष्ठित किया। वाजपेयीजी ने छायावाद का पृथक् रूप देखा और प्रसाद एवं निराला की आलोचना करते हुए उसकी मानसिक भूमि का विश्लेषण किया। वाजपेयीजी गम्भीर आलोचक हैं। उन्होंने गहरे में जाकर अन्तर्तत्वों को ग्रहण करने का प्रयत्न किया; और उनके परिश्रम के फल-स्वरूप—यद्यपि बहुत बाद में—कुछ स्थायी तत्व भी प्राप्त हुए:

१. आधुनिक छायावादी दृश्यमान मानव-जीवन को ही लक्ष्य मानकर उनकी अलौकिकता की झाँकी देखते हैं। रहस्यवाद के दो रूप हैं: एक परोक्ष (सूफ़ी) रहस्यवाद, दूसरा प्राकृतिक (अपरोक्ष) रहस्यवाद। आज का रहस्यवाद प्रायः दूसरे प्रकार का ही है।

२. छायावाद की सौन्दर्य-कल्पनायें प्रधानतः अशरीरी हैं।

परन्तु इनके विवेचन में एक दोष था। इन्होंने छायावाद के ऊपर दार्शनिक आवरण इतना अधिक चढ़ा दिया कि न तो वह स्वयं ही अपना आशय बिलकुल स्पष्ट कर सके और न छायावाद ही उसको वहन कर सका। इसका कारण यह था कि इन्होंने छायावाद की अधिकांश मूल प्रवृत्तियों का उद्गम प्रसादजी की तरह भारतीय दर्शन को ही माना, विदेशी रोमांटिक स्कूल और इस युग की सामाजिक कुण्ठाओं का—विशेषकर सेक्स-सम्बन्धी कुण्ठाओं का—प्रभाव वह उचित मात्रा में स्वीकार न कर सके। इसके अतिरिक्त कला-पक्ष में इन्हें जैसे कुछ कहने को ही नहीं था।

इनके कुछ समय बाद ही अपनी भावुकता के भार से दबे हुए शान्ति-प्रिय आये। यह सीधे कवि-लोक से आ रहे थे, कुण्ठित परिस्थितियों ने इनकी वृत्तियों को एकदम अन्तर्मुखी कर दिया था। अतः इनकी प्रभाव-ग्राहिणी शक्ति अत्यधिक तीव्र और उसके परिणाम-स्वरूप उनकी भाव-प्रतिक्रियाएँ सूक्ष्म और नुकीली हो गई थीं। छायावाद के अनुभूति-पक्ष का इन्होंने मार्मिक विवेचन किया और बहुत-कुछ इनकी ही कृपा से सबसे पहले हिन्दी वाले छायावाद की ऊर्मिल भावनाओं एवं सौन्दर्य-चित्रों को समझ सके। किसी लेखक ने—शायद आचार्य जानकीवल्लभ ने—इनकी आलोचना को गीतमयी कहा है। मैं समझता हूँ. उसका विवेचन इससे अधिक उपयुक्त नहीं हो सकता। बस, यही उनकी शक्ति है और यही सीमा। लिरिकल होने के कारण शान्ति-प्रियजी की भावनाएँ तरल हैं : यह उनकी शक्ति है। उनके विचार भी उतने ही तरल हैं : यह उनकी सीमा है। इसलिए शान्तिप्रियजी आधुनिक युग के काव्य, विशेषकर छायावाद के रस का आस्वादन तो करा सके लेकिन उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं कर सके।

उपर्युक्त दोनों विद्वानों की आलोचना रोमांटिक आलोचना थी। हिन्दी में अभी वह समय नहीं आया था कि लोग रोमांटिक कविता के साथ रोमांटिक आलोचना को भी समझ और पढ़ सकें। कविता के विषय में तो उनकी परम्परागत धारणा पराजय स्वीकार कर चुकी थी। परन्तु समालोचना भी कविता की भाँति दुरूह हो, यह वे एकदम बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थे। अतएव छायावादी आलोचना या उड़ती आलोचना कहकर पण्डित-समाज उसकी उपेक्षा कर रहा था।

इसी समय कुछ आगे-पीछे शास्त्रज्ञ पण्डितों की एक टोली भी इसी ओर मुड़ी। इनमें पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाबराय और पण्डित कृष्णशङ्कर शुक्ल मुख्य थे। हजारीप्रसादजी एकदम क्लासीकल विद्वान् हैं। उनका संस्कृत-साहित्य का अध्ययन गहन और विस्तृत है। साथ ही उनको शान्ति-निकेतन के साहित्यिक वातावरण में रहकर अपने पाण्डित्य का संस्कार करने का अवसर भी मिला है। अतएव प्राचीन और नवीन दोनों के उचित संयोग से द्विवेदीजी की आलोचना की आधार-भूमि अत्यन्त दृढ़ हो गई है। आज से छः सात वर्ष पूर्व इन्होंने 'विशालभारत' में नवीन काव्य-ग्रन्थों की आलोचना करते हुए आधुनिक काव्य का विवेचन किया था। यह विवेचन परिमाण में

यद्यपि अत्यन्त अपर्याप्त था, परन्तु पिछले दोनों आलोचकों की अपेक्षा पुष्ट एवं सुथरा था। साथ ही शास्त्रीय होने के कारण हिन्दी-पाठकों पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ा। लोग सोचने लगे : छायावाद शास्त्र-सम्मत भी है।

वास्तव में द्विवेदीजी की प्रतिभा का विकास बाद में हुआ और उनका क्षेत्र भी कुछ बदल गया। अतएव आधुनिक हिन्दी-काव्य पर उनका आभार अपेक्षाकृत कम है।

तभी बाबू गुलाबराय ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया। बाबूजी हिन्दी के पुराने विद्वान् हैं—एकदम उत्तर-द्विवेदी-कालीन ! वे इस समय से बहुत पहले ही दर्शन, निबन्ध एवं रस-शास्त्र में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। अतः उनके वक्तव्यों को लोगों ने श्रद्धा से पढ़ा।' बाबूजी ने छायावाद के दार्शनिक पक्ष को स्पष्ट करने में यथेष्ट योग दिया। उनका—शायद इन्दौर साहित्य-सम्मेलन में पढ़ा हुआ—'हिन्दी कविता में रहस्यवाद' शीर्षक लेख आधुनिक काव्य के विचार-पक्ष का प्रौढ़ समर्थन था। आधुनिक कवियों की अनन्त और असीम विषयक जिज्ञासा की वह एक अचूक सफ़ाई थी। उसके कुछ दिन बाद फिर उन्होंने अपने सुबोध इतिहास में नवीन कविता-धारा की सुलझी और विस्तृत व्याख्या उपस्थित की जो अपना पृथक् अस्तित्व रखती है।

आधुनिक काव्य की पूर्ण प्रतिष्ठा तब हुई जब कृष्णशङ्कर शुक्ल ने अपने इतिहास में उसका अत्यन्त सहृदयता-पूर्वक विवेचन किया। यह ठीक है कि कृष्णशङ्करजी न तो छायावाद का रूप ही स्पष्ट कर पाये हैं और न नवीन कविता की अन्य चिन्ता-धाराओं का ही सम्यक् विश्लेषण कर सके हैं। प्रवृत्तियों का विश्लेषण उनके इतिहास की सबसे बड़ी त्रुटि है। परन्तु चिर-उपेक्षित आधुनिक कवियों की प्रतिभा को स्वीकार करने वाले शुक्ल-स्कूल के यह पहले विद्वान् थे। पृथक् रूप में प्रसाद, पन्त और निराला की कविता की उन्होंने शास्त्रीय ढङ्ग पर विस्तृत आलोचना की और इसमें सन्देह नहीं कि पण्डित-समाज में इन्हें आदर प्राप्त कराने का श्रेय बहुत कुछ कृष्णशङ्करजी को ही है।

इस प्रकार तीसरे चरण में एक बड़ी मंजिल तय हुई। आधुनिक काव्य पर काफ़ी सोचा और समझा गया। नन्ददुलारे वाजपेयी ने उसके मानस-पक्ष का, बाबू गुलाबराय ने विचार-पक्ष का और शान्तिप्रिय द्विवेदी ने हृदय-पक्ष का सुन्दर और प्रौढ़ विवेचन किया। कला-पक्ष भी उपेक्षित न रहा।

प्रतिनिधि कलाकार पंत की सौन्दर्य-दृष्टि का विश्लेषण हुआ। साथ ही, सत्येन्द्र जी ने गुप्तजी की कला का सूक्ष्म विवेचन किया और श्रीयुत सुधांशु ने नई कविता की अभिव्यञ्जना-पद्धति की क्रोचे के आधार पर व्याख्या की।

संक्षेप में आलोचना के तीसरे चरण का उत्तराधिकार यह है :

१. हिन्दी में रोमांटिक आलोचना का जन्म हुआ। अब तक अधिकतर वस्तुगत विवेचन का प्राधान्य था। अब भावगत विवेचन भी आरम्भ हुआ और आलोचना स्पष्ट रूप से सृजनात्मक अतएव सरस होने लगी।

२. युग-युग के अंतर में बहती हुई चिरन्तन जीवन-धारा से साहित्य का सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसकी इसी रूप में व्याख्या की गई।

३. अनुभूतियों का विश्लेषण होने लगा। अवचेतन और अर्धचेतन की भी यथाशक्ति छानबीन होने लगी।

४. कला का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। अभिव्यञ्जना और अनुभूति का सीधा सम्बन्ध समझा गया।

चौथा चरण

> ["संक्षेप में, पूँजीवादी समाज की वास्तविकता ने इन छायावादी कवियों को इतना अहंवादी, आत्मापेक्षी, समाज-विरोधी और व्यक्तिवादी बना दिया है कि वे अपने असन्तोष का अस्त्र भी फेंक चुके हैं। उनका मैं, उनकी अन्तर्प्रेरणायें, सामूहिक व्यक्तित्व का मैं या समाज के द्वारा ग्रहण की गई अन्तर्प्रेरणायें नहीं रहीं।......
>
> खेद केवल इस बात का है कि जीवन और स्वतन्त्रता की आवश्यकता की चेतना के अभाव ने उनकी चिर-अधीरता और चिर-असन्तुष्टि का दुरुपयोग कर, उनमें अपने जीवन की निरर्थकता में सार्थकता का आभास प्रदान करने वाली निरर्थक कला के प्रति आसक्ति उत्पन्न कर दी है।"]

१९३७-३८ से छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई। यहाँ से हमारा चौथा चरण आरम्भ होता है।

इस प्रतिक्रिया के साहित्यिक और सामाजिक कारण थे। साहित्यिक कारण था छायावादी अनुभूतियों की तरल सूक्ष्मताएँ, जिनके परिणाम-स्वरूप उसमें रक्त-मांस की कमी हो रही थी। सामाजिक कारण था जीवन में

आध्यात्मिक और सूक्ष्म-संस्कृत के विरुद्ध भौतिक और स्थूल-प्राकृत का आह्वान, अर्थात् गाँधीवाद को समाजवाद का चैलेञ्ज। इस आह्वान की अभि-व्यक्ति हुई प्रगतिवाद।

प्रगतिवाद अपने स्वरूप में ही आलोचनात्मक है: इसका दृष्टिकोण बौद्धिक है। अतएव इसको जन्म से पूर्व ही आलोचना का वरद-हस्त मिल गया। छायावाद जहाँ अपनी हीनता से सफाई देता हुआ—शान्तिप्रिय द्विवेदी की तरह—आया था वहाँ प्रगतिवाद श्रेष्ठता के गर्व से उन्मत्त प्रचलित विश्वासों को फटकारता हुआ आया। फिर भी यह निर्विवाद है कि प्रगतिवाद आज की जीवित शक्ति है, यद्यपि इसका स्वरूप अभी स्थिर होना है। आज की प्रगति-कविता सबसे अधिक कवि पन्त की ऋणी है, जिनके व्यक्तित्व के द्वारा उसे गौरव मिला। आलोचना के क्षेत्र में भी उनका आभार गहन है। सबसे पूर्व उनके ही 'रूपाभ' में लिखे सम्पादकीयों ने भौतिक एवं स्थूल की उपादेयता को सुनिश्चित गाम्भीर्य के साथ व्यक्त किया और साहित्यिक मानों में समय की माँग के अनुसार परिवर्तन करने की आवश्यकता पर बल दिया। इसके अतिरिक्त उनकी 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की अनेक कविताएँ स्वयं प्रगति की प्रौढ़ विवेचना हैं।

'रूपाभ' के साथ ही 'हंस' ने बलपूर्वक प्रगति का आँचल पकड़ा। 'हंस' को स्वर्गीय प्रेमचन्दजी अपने अन्तिम दिनों में बहुत-कुछ प्रगतिशील सामग्री दे गये थे। 'हंस' ने उसे परिश्रम से सँजोये रखा और धीरे-धीरे अपने स्टैण्डर्ड को मजबूत किया।

हिन्दी में प्रगतिशीलता की पुकार होते ही वह अपना निश्चित दृष्टि-कोण लेकर सामने आ गया। अनेक लेखकों ने उसमें प्रगति की आवा उठाई और लेखों की झड़ी लगाई। परन्तु प्रारम्भिक प्रयत्न होने के कारण उनमें उत्साह और भाव-बल तो था, परन्तु विश्लेषण का एकदम अभाव था। अभी तक वे लेखक प्रगति की कविता को राष्ट्रीय कविता से पृथक् कर के नहीं देख सके थे। यही कारण है कि उस समय प्रगति की परिधि में मैथिली बाबू भी आ जाते थे, जब कि आज वे घोर प्रतिक्रियावादी समझे जाते हैं। अतएव इन लेखों के द्वारा प्रगति की रूप-रेखा तो न बन पाई परन्तु उसका प्रचार अवश्य हुआ, जिसके लिए वह सबसे अधिक आभारी है प्रो० प्रकाश-चन्द्र गुप्त की। इनकी नवीन-प्रिय संस्कृत-रुचि और निष्कपट उत्साह ने प्रगति

को यथेष्ट सम्मान दिया और इनकी कृपा से कुछ हाथ-पैर मारते हुए काव बाहर प्रकाश में भी आये। फिर भी प्रगति की सीमाएँ निर्धारित करने वाले पहले आलोचक हैं शिवदानसिंह चौहान।

ऐसा मालूम पड़ता है कि चौहानजी ने काफी दिनों तक चुपचाप विदेशी प्रगति-साहित्य का, विशेषकर उसके आलोचना-भाग का, अध्ययन करने के उपरान्त हिन्दी में लिखना आरम्भ किया। इसलिए इनके प्रारम्भिक वक्तव्यों में ही निश्चय और विश्वास मिला। इन्होंने ही सब से पहले प्रगति के तत्त्वों का विश्लेषण कर उसकी सामाजिक चेतना एवं दार्शनिक आधार को स्पष्ट करते हुए उनका भौतिक व्याख्यान किया। शिवदानसिंहजी का साहित्य परिमाण में अत्यन्त स्वल्प है, इनके लेखों को प्रकाश-स्तम्भ कहना वर्गोत्साह में आकर हिन्दी के आलोचना-साहित्य का अपमान करना है। एक तो इनकी व्याख्या विदेशी साहित्य से परिचित व्यक्ति के लिए पूर्णतः नवीन नहीं है, दूसरे उसमें अभी वस्तु के विश्लेषण के साथ सिद्धान्त का आरोप भी काफ़ी है, और तीसरे वह एकदम एकांगी है। परन्तु यह मानना अनिवार्य है कि उनकी दृष्टि गहरी और स्थिर एवं विश्वास अतर्क्य है। साथ ही प्रगतिवर्ग के अन्य आलोचकों की अपेक्षा उनमें कहीं अधिक विवेक और उदारता है जो उनके आत्म-विश्वास की द्योतक है।

आलोचना में मार्क्स के दृष्टिकोण को इन से कुछ पूर्व अज्ञेय और रामविलास शर्मा ग्रहण कर चुके थे। इन दोनों में एक बात समान । वह यह कि ये क्रान्ति के समान ही परम्परा के भी भक्त हैं। अज्ञेय के लेखों का संग्रह 'त्रिशंकु', जिसमें उन्होंने भौतिक आधार पर ही आधुनिक कला और साहित्य का विवेचन किया है, आज तीन-चार वर्ष से प्रेस के कक्ष में सुरक्षित है। अज्ञेय में सूक्ष्मता के साथ शक्ति भी है। इनका यह दोष है कि कभी-कभी ये टेकनीक के मोहवश या कुछ बहुत गहरी और नयी बात कहने के प्रयत्न में अपनी ही निविड़ता में उलझ जाते हैं। रामविलास की आलोचना उनके व्यक्तित्व के समान ही दृढ़, खरी और कुछ खड़ी भी होती है। आज उनके जो लेख निकल रहे हैं उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों उनकी प्रवृत्ति विश्लेषण की जटिलताओं में न पड़कर, जैनेन्द्रजी की शब्दावली में, दो-टूक बात कहने की ओर होती जा रही है। वात्स्यायन तो अपने व्यक्तिवाद के कारण अभी प्रगति की सीमा-रेखा पर ही खड़े हैं, परन्तु रामविलास ने अब प्रगतिवाद का पौरोहित्य स्वीकार कर लिया है।

इन लोगों के द्वारा प्रगतिवाद का प्रतिपादन और छायावाद का विरोध उग्र रूप में हो रहा है।

छायावाद के विरुद्ध किये गये आक्षेपों का समाधान सुश्री महादेवी वर्मा ने अपनी भूमिकाओं और 'चिंतन के क्षणों में' द्वारा किया है, जिनमें साहित्य के सनातन सिद्धान्तों के आलोक में आधुनिक-काव्य की गति-विधि को विश्वस्त रूप से परखा गया है। आज पल-पल परिवर्तित मानों के बवण्डर में खोया हुआ साहित्य का विद्यार्थी उनके द्वारा वाञ्छित स्थिरता प्राप्त कर सकता है। आलोक-स्तम्भ आज इन्हें कहा जा सकता है।

हमारे चौथे चरण का अभी पहला निक्षेप है। परन्तु, जैसा मैंने अभी निवेदन किया, प्रगति का मूल ही आलोचनात्मक है। अतएव इन दो-तीन वर्षों में ही उसके प्रभाववश हिन्दी-आलोचना में स्फूर्ति आ गई है। प्रगतिवाद की सबसे बड़ी देन है मार्क्स का दृष्टिकोण। साहित्य की सामाजिक चेतनाओं का अध्ययन स्वयं मनोरञ्जक है—उसके द्वारा साहित्य की अन्तर्वृत्तियों पर एक नवीन प्रकाश पड़ता है। प्रगति का दूसरा शुभ प्रभाव यह हुआ है कि आलोचना में बौद्धिकता की शक्ति आ गई है, जिससे विश्लेषण का गौरव बढ़ने लगा है। विश्लेषण में अभी प्रायः मार्क्स की ही सहायता ली जा रही है, फ्रायड की अन्तर्प्रवेशिनी दृष्टि अभी हिन्दी को नहीं मिली। परन्तु कुछ आलोचक उधर प्रयत्नशील अवश्य हैं, और हमारा विश्वास है कि मार्क्स और फ्रायड का संयत, विवेकयुक्त—क्योंकि बिना इसके भयङ्कर छीछालेदर की सम्भावना है—उपयोग हिन्दी साहित्य के सूक्ष्मतम तत्त्वों को प्रकाश में ले आयेगा।

१५

वाणी के न्याय-मन्दिर में

स्थान

काव्य-लोक जिसका प्रचलित नाम ब्रह्मलोक भी है।

पात्र

ज्ञानशङ्कर	प्रेमाश्रम का नायक	वादी
प्रेमचन्द	प्रेमाश्रम के रचयिता	प्रतिवादी
मनोहर	प्रेमाश्रम का पात्र	
भगवती वीणापाणि	काव्य-लोक की अधिष्ठात्री	न्यायालयाध्यक्षा,

न्याय-मन्त्री, महाप्रतिहार आदि

रङ्ग संकेत

[काव्य-लोक में विचार-सभा का मण्डप, प्राचीन भारतीय शैली का बना हुआ। मण्डप के मूर्धन्य में एक रत्न-जटित मराल-सिंहासन जिस पर शुभ्रवसना भगवती वीणा-पाणि विराजमान है। वीणा-पाणि चिर-यौवना सुन्दरी हैं। उनका मुख-मण्डल प्रशान्त आनन्द से दीप्त है और अङ्गों में जैसे काव्य का रस घनीभूत हो गया है।

उनसे कुछ ही हटकर वाम पार्श्व में काव्य-लोक के न्यायमन्त्री की स्वर्ण-आसन्दी है। न्यायमन्त्री परिपक्व अवस्था के व्यक्ति हैं। उनकी रस-स्निग्ध दृष्टि में बुद्धि का आलोक है।

उनसे लगभग पाँच हाथ की दूरी पर दो चाँदी की आसंदियाँ पड़ी हुई हैं। एक पर मूछों में हँसते हुए उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द विराजमान हैं, दूसरी पर मुद्रा में क्रोध लिए हुए ज्ञानशंकर।

सभा-मण्डप में चारों ओर आसन्दियों की पंक्तियां सजी हुई हैं, जिन पर असंख्य दर्शक-समाज बैठा हुआ निर्निमेष नेत्रों से इस अद्भुत विचार-दृश्य को देख रहा है।

[× × × ×]

कुमारामात्य—राज राजेश्वरी भगवती वीणापाणि की जय हो ! कल्याणी के विचारालय में मर्त्यलोक-निवासी ज्ञानशङ्कर ने श्री श्री परमादरणीय महाप्रतिभ पूत-दृष्टि उपन्यास-महारथी श्री प्रेमचन्द के विरुद्ध कतिपय गम्भीर अभियोग उपस्थित किए हैं। आज उन्हीं पर विचार करने का दिन है। आज्ञा हो तो वादी ज्ञानशङ्कर को श्रीचरणों में स्वयं प्रार्थना करने का अवसर दिया जाय।

वीणापाणि—वादी अपना अभियोग उपस्थित करे।

ज्ञानशङ्कर—राजेश्वरी परमभट्ट-महिषी भगवती वीणापाणि की जय हो ! भगवती, मैं श्री प्रेमचन्द का भाव-जात हूँ। इसके लिए मुझे उनका कृतज्ञ होना चाहिए, परन्तु उन्होंने जो जन्म से ही मेरे विरुद्ध अत्याचार, अन्याय और पक्षपात किया है उसके कारण मैं जीवन-भर अनेक यातनाओं का—निंदा, पातक और असफलताओं का भागी रहा। उन्होंने मेरे स्त्री, पुत्र, भाई, प्रजा सभी को मेरे विरुद्ध प्रोत्साहित किया और अन्त में मुझे आत्महत्या जैसे महाभिशाप को भोगने के लिए बाध्य किया। अब मैं अपने अभियोगों को क्रमानुसार उपस्थित करता हूँ।

उपन्यास-सम्राट् का सबसे बड़ा दोष यह है कि वे यथार्थवादी कलाकार होने का दम्भ करते हुए भी भयङ्कर आदर्शवादी—अथवा यों कहें कि आदर्श-भीरु—हैं। विश्व के अन्य महान् स्रष्टाओं की भांति उनका जीवन के तथ्य पर अधिकार नहीं है, वे तथ्य-दर्शन को पूरी तरह नहीं समझते। तभी तो वे सम्पूर्ण जीवन के साथ, उसकी समस्त विषमताओं के साथ समझौता करने में असमर्थ रहे हैं: इसी कारण उनका दृष्टिकोण आदर्श-वादी अतएव एकांगी है। वे स्पष्ट रूप से एक ऐसे आदर्श-विधान में अन्ध आस्था रखते हैं जो पूर्णतः अव्यावहारिक और असङ्गत है। राजनीति के क्षेत्र में तो कम-से-कम जिसकी विफलता आज प्रत्यक्षतः सिद्ध हो चुकी है।

इस काल्पनिक स्वप्नदर्शी विधान के पीछे प्रेमचन्दजी पग-पग पर कला का तिरस्कार करते हैं, वे बार-बार कलाकार के उच्च गौरव को भूलकर प्रचार के निम्न धरातल पर उतर आते हैं और एक सामान्य मञ्चवीर की तरह प्रॉपैगैण्डा करने लगते हैं। उन्होंने प्रेमाश्रम में एक ऐसी कठपुतली की सृष्टि की है जो सोलहों आने उनके इशारों पर नाचे। यह कठपुतली है प्रेमशङ्कर, जो गांधीवादी आदर्श—त्याग और अहिंसा का निर्जीव प्रतीक-मात्र है। इस

व्यक्ति से उपन्यासकार को इतना मोह है कि उसके चरित्र को उज्ज्वल रूप में उपस्थित करने के लिए ही उन्होंने मेरे व्यक्तित्व को काले रङ्ग से भर दिया है। उन्होंने मुझ-जैसे शक्तिशाली व्यक्तित्व का वैषम्य के लिए ही उपयोग किया है। मेरे चरित्र की श्यामता प्रेमशङ्कर के व्यक्तित्व को उज्ज्वलतर रूप में प्रस्तुत करे यही मानों मेरा उपयोग है। इतना ही नहीं, उन्होंने नायक के गौरव को भी मुझ से छीनने का प्रयत्न किया है। प्रेमाश्रम का कथा-विकास साक्षी है कि उसके सम्पूर्ण जीवन-क्षेत्र को मेरा ही महान् व्यक्तित्व आच्छादित किए हुए है। मैं ही उसकी प्रमुख घटनाओं का सूत्रधार हूँ। परन्तु अन्त में जाकर साफ़ तौर से उपन्यासकार की नीयत बिगड़ गई है और बीच में ही मेरा गला घोटकर उसने प्रेमशङ्कर-जैसे दुर्बल व्यक्ति को नायक पद पर आसीन कर दिया है। उपन्यासकार मेरे प्रति इस निराधार द्वेष का दोषी है।

मेरा दूसरा अभियोग, जो किसी अंश तक पहले अभियोग से ही सम्बद्ध है, यह है कि उपन्यासकार नीतिवादी है। वह स्थूल नीति-विधान में इतना अधिक विश्वास करता है कि मानव-चरित्र को समझने में भूल कर जाता है। साथ ही उसकी नीति भी आज पुरानी पड़ गई है। देश-काल के अनुकूल उसमें शक्ति नहीं है। वह आज भी कर्म के सत्-असत् होने की कसौटी उसके परिणाम को न मानकर हिंसा-अहिंसा को मानता है। आत्मार्थ आज भी उसकी दृष्टि में भयङ्कर पाप है, आज भी वह सारे समाज को त्याग और तपस्या का पाठ पढ़ाने का साहस करता है। इसका परिणाम यह है कि वह फूँक-फूँक कर पैर रखने वाले नीति-वादियों को ही गौरव का भागी समझता है; मुझ-जैसे जीवट के आदमी के चरित्र-बल को समझने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। अतएव उसने अपनी दुर्बलताओं को छिपाने के लिए मेरा पग-पग पर अपमान किया है।

मेरा तीसरा अभियोग यह है कि कलाकार के उच्चासन के लोभी ये महाशय मनोविज्ञान के इस युग में भी काव्य-न्याय में विश्वास करते मालूम पड़ते हैं; परन्तु न्याय की भी इनकी परिभाषा अत्यन्त संकुचित और एकांगी है। इनको अपने विचारों के प्रति अनुचित पक्षपात है। ये इतने असहिष्णु हैं कि यदि कोई व्यक्ति इनसे सहमत नहीं है तो वह निश्चय ही उनकी दृष्टि में घोर पापी और इस कारण दण्डनीय है। इसीलिए जिस किसी को भी वे अपने सिद्धान्तों के अनुकूल बनाने में असमर्थ रहते हैं उसी पर इनके न्याय-दण्ड का निर्मम प्रहार होता है। अपने जीवनादर्श महात्मा गाँधी की भाँति

ये भी पुतलियों से खेलना चाहते हैं; स्वतन्त्र विचारशील सबल व्यक्तित्वों को सहन नहीं कर सकते। उपन्यास के सभी व्यक्तियों को इन्होंने उचित या अनुचित ढङ्ग से अपनी नीति को मानने के लिए विवश किया है। मेरा और मनोहर का यही अपराध था कि हमने उनकी इस क्लीव नीति का विरोध किया। बस, इसीलिए हमको कठिन दण्ड भोगना पड़ा।

मेरा चौथा अभियोग यह है कि श्री प्रेमचन्द महोदय ने द्वेष से अन्धे होकर मेरे चरित्रांकन में जिस शैली का अनुकरण किया है वह जितनी अनुचित है उतनी ही अस्वाभाविक भी। उनका उद्देश्य यही रहा है कि स्वाभाविक या अस्वाभाविक रीति से मुझ को नीचा दिखाया जाय। इसके लिए वे बार-बार मेरे चरित्र की कालिमा को खूब गहरे रंग में लोगों के सम्मुख रखते हैं। ऐसा करते हुए उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहता कि इस प्रकार वे प्रायः परस्पर विरोधी बातें कह रहे हैं। इसीलिए मेरे चरित्र-चित्रण में विरोधी तत्त्वों का अस्वाभाविक मिश्रण है। कारण यह है कि गांधीवादी होने के कारण प्रेमचन्दजी मानवात्मा की एकान्त पवित्रता पर विश्वास करते हैं, दूसरी ओर सिद्धान्त-विरोधी होने के कारण स्वयं उनका ही हृदय मेरे प्रति निर्मल नहीं है। उनको मेरे व्यक्तित्व से घृणा है; इसीलिए सिद्धान्त की झोंक में बार-बार मेरे चरित्र का शुभ्र पहलू दिखाने का प्रयत्न करते हुए भी उनकी लेखनी उनके हृदय की प्रेरणा से तुरन्त उसके कलुष को ही चित्रित कर उठती है। लेखक ने कहीं भी मेरे हृदय की कोमल वृत्तियों को उभरने नहीं दिया। इतना ही नहीं वे सदैव मेरे प्रयत्नों के साथ खिलवाड़ भी करते रहे हैं। सफलता को उन्होंने मेरे जीवन की मृग-तृष्णा बना दिया है। मैं अपने चरित्र और बुद्धिबल के सहारे जीवन-संघर्ष में विजय प्राप्त करता हूँ, परन्तु दुर्दैव की भाँति पीछे पड़ा हुआ यह मेरा भाग्य-विधाता होंठों के छूते-छूते ही प्याला छीन कर फेंक देता है। मुझ को विफल करने की धुन में वह प्रायः यह भी भूल जाता है कि ऐसा स्वाभाविक भी है या नहीं—परिस्थितियों की गति उसके अनुकूल भी है या नहीं, इसकी उपन्यास-सम्राट् को चिन्ता ही नहीं रहती।

मेरा अन्तिम और सब-से-बड़ा अभियोग यह है कि इन्होंने मुझे बरबस आत्महत्या के घृणित अभिशाप का भागी बनाया, जो मेरे प्राणवान् व्यक्तित्व के सर्वथा प्रतिकूल है। मेरे हृदय में जीवन के प्रति असीम अनुराग है। जीवन के उपभोग के लिए मेरे मन में सदैव अदम्य उत्साह रहा है। मैंने

एक पुरुषार्थी की भाँति जीवन की विषमताओं को पदाक्रान्त किया है। जीवन में एक बार भी मैंने उनके सम्मुख मस्तक नहीं झुकाया। बस, इसीलिए मेरे जन्मदाता ने मुझे जाकर गङ्गा में डुबो दिया, क्योंकि मैं उनकी इच्छा का दास नहीं बन सका ? अनेक प्रकार के उचित-अनुचित उपायों का अवलम्बन करने के बाद भी जब वे हार गए तो अन्त में उन्होंने मेरे ऊपर अपने उसी ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया जो उनका अन्तिम साधन है। जब कभी वे अपने किसी भाव-जात को वश में नहीं कर सकते तो वे उसका गला घोंट देते हैं। उन्होंने यह पाप सदैव और सर्वत्र किया है। मैं अपने पक्ष में अनेक साक्षियाँ उपस्थित कर सकता हूँ। पर यहाँ केवल मनोहर की ही साक्षी काफ़ी होगी। मनोहर जीवन-भर मेरा घोर शत्रु रहा। परन्तु वह भी मेरी तरह जीवट का आदमी है, और इसीलिए एक ही दण्ड का समभागी होने के कारण मुझे विश्वास है कि वह मेरे पक्ष का समर्थन करेगा।

इन्हीं अतिचारों को दृष्टि में रखते हुए अन्त में मैं श्रीयुत् प्रेमचन्दजी को अन्याय, पक्षपात, मानहानि और हत्या का अपराधी ठहराता हूँ; और न्याय, मानवता एवं कला के नाम पर हंस-वाहिनी जगदम्बा वीणापाणि के चरणों में प्रार्थना करता हूँ कि मेरे साथ नीर-क्षीर न्याय का पालन करते हुए इन स्वयं-भू उपन्यास-सम्राट् को स्रष्टा-कलाकारों के इस पुनीत लोक से निर्वासित कर मञ्चवीर प्रचारकों और उपदेशकों की अधोभूमि में भेज दिया जाय, जिससे मेरे रक्त के बदले में इनका ज़रा-मरण के भय से मुक्त यशःशरीर एकदम नष्ट हो जाय।

× × ×

भगवती वीणापाणि—महाप्रतिहार को आदेश होता है कि वह मनोहर को साक्षी-रूप में उपस्थित करे।

महाप्रतिहार मस्तक झुकाये नम्रतापूर्वक बाहर जाता है और मनोहर के पीछे-पीछे उसी विनीत, गम्भीर मुद्रा में उपस्थित होता है।

मनोहर—माता शारदा की जय हो।

वीणापाणि—मनोहर ! तुम्हारा वादी ज्ञानशङ्कर और प्रतिवादी श्रीयुत् प्रेमचन्द से परिचय है ?

मनोहर—हाँ भगवती ! एक मेरे मालिक, दूसरे मेरे जन्मदाता हैं।

वीणापाणि—शपथ करो कि ब्रह्मलोक के इस न्यायालय को एक भी असत्य शब्द से कलुषित न करोगे।

मनोहर—माँ, मैं मानवता की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि भगवती के सामने मुँह से एक बात भी झूठ नहीं निकालूँगा।

वीणापाणि—अच्छा तुम वादी और प्रतिवादी के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में क्या जानते हो ?

मनोहर—भगवती, मेरी ही तरह वादी के प्रतिवादी ही जन्मदाता हैं। ज़िन्दगी-भर मैंने बाबू ज्ञानशङ्कर से लड़ाई लड़ी, पर मैं इस बात के लिए सचाई का गला कैसे घोंटूँ ! मैंने उनकी नीति का विरोध किया, पर उनके पुरसारथ का मैं हमेशा कायल रहा। उन जैसा आदमी मैंने ज़िन्दगी-भर में दूसरा नहीं देखा—जन्म-भर वे विपदाओं से लड़ते रहे। मुन्सीजी ने आगे-पीछे से उन पर वार किये, पर वह मेरा सेर अपनी ही धुन में मस्त रहा।

वीणापाणि—तुम्हें भी प्रतिवादी के विरोध में कोई अभियोग उपस्थित करना है ?

मनोहर—कैसे बताऊँ माँ, शरम लगती है। अपने माई-बाप के खिलाफ कैसे जबान खोलूँ, पर सच्ची बात कहने को तो सौगन्ध खा चुका हूँ—तुमसे क्या छिपाऊँ ? मुन्सीजी को जीवट के आदमियों से कुछ बैर है। वे चाहते हैं कि हर-एक आदमी उनकी तरह दब्बू बना रहे। मैं जब तक उनकी बात मानता रहा वे मुझ से खुश रहे। पर जब मैं महरिया की बेइज्जती देख आपे-से बाहर हो गया तो उन्होंने मेरे ही हाथों से जेल में मेरा गला घुटवा दिया।

वीणापाणि—प्रतिवादी के पास इन अभियोगों का क्या उत्तर है ?

प्रेमचन्दजी—कल्याणी की जय हो ! अगर अपराध क्षमा हो तो मैं कचहरी की आमफ़हम भाषा में अपना इजहार दूँ। मुझे कृत्रिम भाषा बोलने का अभ्यास नहीं है।

वीणापाणि—प्रतिवादी को आज्ञा होती है कि जिस प्रकार की भाषा का चाहे उपयोग करे। परन्तु किसी सांस्कृतिक भाषा को कृत्रिम कहना उस संस्कृति के प्रति अपराध करना है। अतएव पहले उसे न्यायालय से इस अपराध की क्षमा माँगनी चाहिए।

प्रेमचन्दजी—मेरा आशय यह नहीं था। फिर भी मैं अपने लफ्ज़ों को वापस लेता हूँ।

वीणापाणि—प्रतिवादी अपना वक्तव्य प्रारम्भ करे।

प्रेमचन्दजी—कल्याणी! मेरे ख़िलाफ़ पाँच इल्ज़ाम लगाए गये हैं। साधारणतः मुझे उनको सुनकर तकलीफ़ होती, लेकिन चूँकि मैं मानव-चरित्र का ज्ञाता हूँ इसलिए बाबू ज्ञानशङ्कर की मनोवृत्ति समझने में मुझे कोई मुश्किल नहीं हो रही: ख़ैर मैं इनका एक-एक करके जवाब देता हूँ।

मेरे ख़िलाफ़ पहला जुर्म यह है कि मैं यथार्थवाद का दम्भ भरते हुए भी आदर्श-भीरु हूँ। मेरा तथ्य-दर्शन पर कोई अधिकार नहीं इसलिए मैं अपनी आदर्श-नीति का प्रोपैगैण्डा करता हूँ।

जहाँ तक मुझे याद है मैंने कभी नहीं कहा कि मैं यथार्थवादी या आदर्शवादी हूँ, और न मेरी निगाह में इन लफ्ज़ों का कोई विशेष मूल्य है। मेरे पास आँखें और दिमाग़ दोनों है—आँखों से मैं जीवन की वास्तविकता को देखता हूँ, दिमाग़ से न सिर्फ़ उनके विषय में चिन्तन और मनन ही करता हूँ बल्कि उनका समाधान करने का प्रयत्न भी करता हूँ। लिहाज़ा मेरे साहित्य में यथार्थ और आदर्श दोनों गले में बाहें डालकर चलते हैं। मैंने यथार्थ में जो विषमताएँ देखीं उन पर विवेकपूर्वक मनन किया, और उनका जो समाधान मुझे मिला वही मेरा आदर्श बन गया। इसलिए मेरा आदर्श यथार्थ की आधार-भूमि पर ही खड़ा हुआ है, वह कोरी कल्पना या भावुकता की सृष्टि नहीं है।

जीवन के प्रवाह में आँखें मूँदकर बह जाना कहाँ की बुद्धिमानी है! ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि इसीलिए दी है कि वह उसका हृदय के साथ-साथ उपभोग करे और जीवन की गुत्थियों को सुलझाता हुआ अपना मार्ग प्रशस्त करे। साहित्य की सार्थकता भी ठीक यही है। मेरा अपना दृष्टिकोण सदैव यही रहा है और मैंने विना किसी संकोच के अपने साहित्य में इसका तर्जुमा किया है। मैं आधुनिक जीवन की विषमताओं का एकमात्र समाधान त्याग और प्रेम समझता हूँ। आज का भौतिक जीवन प्रवृत्ति के अतिचार से तड़प उठा है: उसमें निवृत्ति के लिए गुन्जायश नहीं है। इसीलिए वह सन्तुलन खो बैठा है। आज त्याग और प्रेम ही उसे फिर से स्थापित कर सकते हैं। प्रेमशङ्कर

के जीवन में यही सन्तुलन पाया जाता है। इसीलिए वह विजयी हुआ है। और ज्ञानशङ्कर भौतिक सुख की लालसा में अन्धे होकर इसी को खो बैठे हैं। इसलिए वे ज़िन्दगी-भर बाज़ी हारते रहे हैं। यह उनकी नादानी है कि वे अपने को प्रेमशङ्कर से ज्यादा जीवट का आदमी समझते हैं। जीवन का मोह ही तो पुरुषार्थ नहीं है—उसके लिए संयम और आत्मबल की ज़रूरत है।

दूसरा इल्ज़ाम मेरे ऊपर यह है कि मैं नीतिवादी हूँ और मेरी नीति पुरानी पड़ गई है।

जैसा मैंने अभी अर्ज़ किया मैं नीति में विश्वास करता हूँ—विषमताओं का समाधान नीति ही तो है। लेकिन नीति और रूढ़ि में फ़र्क है। नीति जीवन की विषमताओं के समाधान का ही दूसरा नाम है। इससे ही हमारा जीवन चलता है। हाँ, उसे रूढ़ि-बद्ध कर लेना दर असल भूल है। लेकिन यह सोचना कि समाज का जीवन बिना मॉरल्स के कायम रह सकता है, उससे भी बड़ी भूल होगी। मैंने अपनी दृष्टि हमेशा वर्तमान की समस्याओं और उनके समाधान पर ही रक्खी है। मैंने भारत के स्वर्ण-युग के सपने कभी नहीं देखे, हमेशा वर्तमान की समस्याओं से ही ताक़त आज़माई है। लिहाज़ा मेरी नीति विवेक पर ही अवलम्बित है। और इसीलिए उसमें न परम्परा की दुहाई है न धर्म-शास्त्रों की।

ज्ञानशङ्कर की तरह मेरा भी भौतिक जीवन पर अखण्ड विश्वास है। फ़र्क सिर्फ़ यह है कि बाबू ज्ञानशङ्कर आग-से-आग बुझाना चाहते है, मैं पानी के छींटों को काम में लाना चाहता हूं। बस, यही मेरा क़सूर है।

अब तीसरा इलज़ाम सुनिये। मुद्दई को शिकायत है कि मैं काव्य-न्याय में विश्वास करता हूँ।

इसका जवाब यह है कि जहाँ तक काव्य-न्याय के स्थूल रूप से सम्बन्ध है, मैं समझता हूँ कि ऐसी हिमाकत मैं कभी नहीं करता। अगर ऐसा होता तो गायत्री की आत्महत्या क्यों होती। लेकिन सूक्ष्म रूप से मेरा यह निश्चित मत है कि सम्पूर्ण विश्व-विधान के पीछे, उसके अणु-अणु में विधाता का न्याय काम कर रहा है। साहित्य जीवन का चित्र है। अतएव इस न्याय की सत्ता साहित्य में भी मान्य होनी चाहिए। न्याय का अर्थ है नियम। और प्रकृति का यह नियम है कि जो जीवन-प्रद

है वह सत् है क्योंकि जीवन सत् है, और जो जीवन का घातक है वह असत् है। इसलिए प्रेम सत् है; हिंसा असत् है। प्रेम स्थायी रहेगा, हिंसा का नाश हो जायगा। मैं जीवन और साहित्य दोनों में इस न्याय का कायल हूँ।

आगे मुद्दई कहता है कि मेरे चरित्रांकन में पूर्वापर विरोध है। एक ओर गांधीवादी होने के नाते मैं मानव-हृदय की स्वाभाविक पवित्रता पर एतक़ाद करता हूँ, दूसरी ओर खुद मेरा ही दिल मुद्दई की तरफ़ से साफ नहीं है। लिहाजा मैंने उसकी खूबियों की तरफ़ इशारा करते हुए भी उनको उभरने का मौक़ा नहीं दिया, और न उसे कभी अपने उद्देश्यों में कामयाब ही होने दिया।

मुझे अफसोस है कि मुद्दई को अपनी बाबत इतना मुग़ालता है। वह अपनी खामियों को नहीं पहिचानता। यह मैं भी मानता हूं कि उसमें खूबियाँ हैं, लकिन उसमें स्वार्थ इतना ज्यादा है कि वह उसकी खूबियों को उभरने का मौका नहीं देता। और रही कामयाब न होने की बात तो उसके लिए भी बाबू ज्ञानशङ्कर खुद ही जिम्मेवार हैं। उनमें बुद्धि-बल है, पुरुषार्थ है, जीवन के लिए प्रेम है; लेकिन आत्म-बल नहीं है। इसलिए वे मौक़े पर अक्सर अपने हाथ से ही अपने पाँव में कुल्हाड़ी मार लेते हैं। राय कमलानन्द के सामने वह एक धमकी में ही सब कुछ उगल बैठे। दरअसल उन-जैसा स्वार्थी आदमी आत्मबल लाएगा कहाँ से ?

आखिरी इलजाम और भी संगीन है। बाबूजी फ़र्माते हैं कि मैंने उनका जबरन गला घोंट दिया। उन को आत्महत्या करने पर मजबूर किया। वे खुद मरना नहीं चाहते थे !

मेरा खयाल था कि इसके लिए वादी मेरा अहसान मानेगा, लेकिन देखता हूँ कि उसने उल्टा मेरे ऊपर दावा कर दिया है। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि जिस इमारत को उन्होंने इतनी मेहनत से बना कर खड़ा किया उसको एक पल में ढहते देख कर खुदकुशी के अलावा और क्या कर सकते थे ? मैं समझता हूँ कि उस वक्त उनकी मृत्यु ही उनके लिए वरदान थी।

बस, मुझे अपनी सफ़ाई में और कुछ अर्ज नहीं करना है।

वीणापाणि—न्याय-मन्त्री को आदेश होता है कि वे अभियोग की सार्थकता पर प्रकाश डालें।

न्याय-मन्त्री—भगवती की जय हो ! मैंने अत्यन्त ध्यानपूर्वक वादी और प्रतिवादी की युक्तियों को सुना।

अभियोगों का विश्लेषण करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में उनकी संख्या पाँच है—और एक-एक अभियोग के अन्तर्गत कुछ और भी छोटे-मोटे अभियोगों की ओर संकेत भी है—परन्तु वास्तव में वे सभी पहले एक अभियोग की ही परिधि में आ जाते हैं। प्रतिवादी के विरुद्ध अभियोग यही है कि उसका तथ्य-दर्शन पर पूर्ण अधिकार नहीं है। वह जीवन के तथ्य को पूर्णतः नहीं समझ सका। वह जीवन के समग्र रूप से उसकी समस्त विभीषिकाओं के साथ समझौता नहीं कर पाया। इसीलिए वह यथार्थ से सन्तोष न कर सदैव आदर्श की उपासना करता रहा है। यथार्थ से सन्तोष न करना वास्तव में यथार्थ को समझने में त्रुटि करना है। जिसको यथार्थ के रहस्य का अनुभव हो जाता है वह आदर्श की चिन्ता नहीं करता—वह तो जीवन के अन्तिम सत्य को प्राप्त कर लेता है। ऐसा ही तथ्य-दर्शी कवि मनीषी कहलाता है। प्रेमचन्द जी जीवन की इतनी गहराई में जाकर नहीं देख सके। वादी का अभियोग इसी बिन्दु पर आकर केन्द्रित होता है। उसने अपने प्रति जिन अत्याचारों का वर्णन किया है वे सभी अत्युक्तिपूर्ण होते हुए भी सर्वथा निराधार नहीं हैं, क्योंकि उसने अपने पहले ही वाक्य में उनके सबसे दुर्बल अंग पर चोट की है। इसका उत्तर उनके पास कोई नहीं है।

वीणापाणि—उपस्थित सभ्य समाज ! हमने वादी, प्रतिवादी एवं न्यायमन्त्री तीनों के वक्तव्यों पर मनन किया। हम न्यायमन्त्री के इस अभिमत से कि प्रतिवादी के पास पहिले और केन्द्रीय अभियोग का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं है, पूर्णतया सहमत हैं।

वास्तव में वे जीवन-तथ्य को समग्र रूप में ग्रहण नहीं कर पाये। उन्हें उसकी वास्तविकता से पूर्ण सहयोग नहीं है। वे उसकी विषमताओं को स्वस्थ रूप में ग्रहण करने में असमर्थ हैं। अतएव कहीं-कहीं वे वास्तव में वादी के प्रति अपराध कर बैठे हैं।

निदान हमारा न्याय-विचार हमें बाध्य करता है कि प्रतिवादी को उचित दण्ड दिया जाय। हमारा आदेश है कि आज से श्रीयुत् प्रेमचन्दजी स्रष्टा-कलाकारों की प्रथम श्रेणी को छोड़ कर द्वितीय श्रेणी में आसन प्राप्त करें।

आज की परिषद् समाप्त की जाती है।
सब उठकर समवेत स्वर में गाते हैं—

जय हो !
जय वीणापाणीऽऽ !
जय शब्दमूर्ति कल्याणीऽऽ !
जय हो !

—पर्दा गिरता है

१६

दीप-शिखा

इस युग में 'दीप-शिखा' का प्रकाशन एक घटना है। महादेवीजी के ही शब्द उधार लेकर हम कहेंगे कि 'जीवन और मरण के इन तूफानी दिनों में रची हुई यह कविता ठीक ऐसी है जैसे झंझा और प्रलय के बीच में स्थित मन्दिर में जलने वाली निष्कम्प दीप-शिखा।'

इस पुस्तक का महत्व एक और दृष्टि से भी है। आज छः-सात वर्षों के बाद महादेवीजी के साधना-मन्दिर का द्वार खुला है और करुणा के स्नेह में जलती हुई इस दीपक की लौ को अब भी एकाकीपन में तन्मय और विश्वास में मुस्कराती हुई देखकर हिन्दी के विद्यार्थी का सशङ्क मन उत्फुल्ल हो उठा है।

दीप-शिखा में ५१ गीत है, और प्रत्येक गीत का अर्थवाही एक चित्र है। इन चित्रों का कला की दृष्टि से क्या मूल्य है, यह कहने का तो मैं अधिकारी नहीं हूँ; परन्तु इस प्रकार का चित्रित गीत-प्रकाशन हिन्दी के लिए एकदम नयी चीज है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक गीत कवयित्री की अपनी ही हस्त-लिपि में मुद्रित है। इस मुद्रण से जहाँ नवीनता तो सचमुच और भी बढ़ गई है, वहाँ लिपि के सुन्दर न होने से पुस्तक की स्वच्छता में क्षति भी अवश्य हो गई है।

हिन्दी में—विश्व के लगभग सभी साहित्यों में—गीत-परम्परा आदि-काल से ही चली आती है। या यों कहिए कि कविता का मूल रूप ही गीत है। गीत के इतिहास पर दृष्टि डालने से उसके दो प्रयोजन मिलते है:

१. आत्म-निवेदन और २. मनोरञ्जन।

इनमें आत्म-निवेदन अधिक मौलिक है। उसको प्रयोजन के अतिरिक्त प्रेरणा भी कहना उचित है। परन्तु मनोरञ्जन भी कम प्राचीन नहीं है। आखेट-प्रिय आदिम पुरुष के वियोग में उसकी गृहिणी आदिम नारी ने आज से न-जाने कितने युग पूर्व अपने एकाकी मन और गृह-कर्म से भारी शरीर को

हल्का करने के लिए गीत का आविष्कार किया था। 'कामायनी' के पाठकों को याद होगा कि मनु के मृगयार्थ वन में चले जाने पर श्रद्धा का हाथ तकली से और मन अनायास गीत की कड़ी से उलझ जाता था।

इस अवस्था में आकर गीत के दोनों प्रयोजनों का समन्वय हो जाता है। धीरे-धीरे ये ही दोनों प्रयोजन अनेक रूपों में बिखरते गये। आत्मनिवेदन पार्थिव और अपार्थिव अवलम्बनों के अनुसार लौकिक और अलौकिक विरह-मिलन की कविता में फूट उठा; मनोरञ्जन उत्सव और पर्वों के गीतों में; और कहीं-कहीं ये दोनों ही मिलकर एक हो गए।

इस प्रकार गीत मानव-मन के हर्ष-विषाद का सहज वाहक है, जो अब तक अपनी परिभाषा को अक्षुण्ण बनाये हुए है। महादेवीजी ने भी इसी से मिलती-जुलती गीत की परिभाषा की है :

"गीत का चिरन्तन विषय रागात्मिका वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाली सुखदुःखात्मक अनुभूति ही रहेगा।...साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"

दीप-शिखा के गीतों में आत्म-निवेदन की प्रेरणा है, मनोरंजन स्पष्टतः ही उनका प्रयोजन नहीं है। परन्तु वह आत्मनिवेदन किस प्रकार का है, यह प्रश्न सरल नहीं है। साधारण रूप से यह कह देना कि इनमें अज्ञात के प्रति विरह-निवेदन है या रहस्योन्मुख प्रेम की अभिव्यक्ति है अथवा लौकिक धरातल पर कवि की अपनी अतृप्त वासना की प्रेरणा है—प्रश्न को और भी जटिल बना देना है। इस आत्म-निवेदन की प्रकृति को समझने के लिए तो कवि के व्यक्तित्व के विश्लेषण का सहारा लेना पड़ेगा।

दीप-शिखा के गीतों का अध्ययन करने पर हमारे मन में तीन प्राथमिक धारणाएँ बनती हैं :

१. दीप-शिखा कवि के अपने मन का प्रतीक है।

२. दीप-शिखा में फ़ारसी की शमअ की तरह ऐन्द्रिय वासना की दाहक ज्वाला नहीं है, वरन् करुणा की स्निग्ध लौ है जो मधुर-मधुर जलती हुई पृथ्वी के कण-कण के लिए आलोक वितरित करती है।

३. और इस जलने के पीछे किसी अज्ञात प्रिय का संकेत है जो उसे असीम बल और अकम्प विश्वास प्रदान करता है ।

महादेवी के काव्य में इसी प्रकार के संकेत मिलते हैं, और इन संकेतों की व्याख्या में हिन्दी आलोचकों ने सारा अध्यात्म एवं वेदान्त समाप्त कर दिया है। उनकी यह व्याख्या महादेवी को परमार्थी योगी की पदवी पर भले ही प्रतिष्ठित करदे, परन्तु उनके काव्य की आत्मा अर्थात् उनकी अनुभूति के स्वरूप को समझने में अणुमात्र भी सहायक नहीं होती।

इस विषय में मैं पहले ही निवेदन करदूँ कि मुझे आधुनिक काव्य की आध्यात्मिकता में एकदम विश्वास नहीं है। काव्य का सम्बन्ध मानव-मन से है, और मन में किसी प्रकार की अपार्थिवता नहीं है। भारतीय दर्शन ने भी उसे सूक्ष्मेन्द्रिय ही माना है। हमारे साहित्य-शास्त्र में भी जहाँ काव्य की अनुभूति-अभिव्यक्ति का विवेचन है, पार्थिव जीवन के ही स्थायी-संचारियों का वर्णन है और रस की अलौकिकता भी अन्त में लौकिक ही ठहरती है। यह बात नहीं कि मुझे अध्यात्मक की सत्ता मान्य नहीं। मैं मानता हूँ कि एक ओर चित्तवृत्ति के संयम और निरोध से और दूसरी ओर उसकी एकाग्रता के अभ्यास से आत्म-चिन्तन और रहस्यानुभूति सम्भव है—और कम-से-कम कबीर की रहस्यानुभूति कल्पना की क्रीड़ा अथवा धार्मिक दम्भ कभी नहीं थी। परन्तु बुद्धि के इस युग में, जैसा कि महादेवीजी ने स्वयं अपनी भूमिका में स्वीकार किया है, इस प्रकार की रहस्यानुभूति कम-से-कम एक नवीन शिक्षा-दीक्षा में पोषित बुद्धि-जीवी के लिए सम्भव नहीं। एक बार व्यक्तिगत चर्चा करते समय भी जब मैंने अपना यह मन्तव्य उनके सम्मुख रखा तो उन्होंने स्पष्ट रूप में इसकी सत्यता स्वीकार की थी। अतएव दीप-शिखा के गीतों की अनुभूति पार्थिव माने बिना काम नहीं चल सकता। उसका विश्लेषण करने पर तीन तत्व हम को मिलते हैं :

१. जलने की भावना, २. विश्व के प्रति गीला-करुणाभाव, और ३. अज्ञात प्रिय का संकेत।

इनमें से तीसरे भाव के मूल में तो स्पष्टतः काम का स्पन्दन है ही; जलने की भावना में असन्तोष और अतृप्ति-भावना भी अनिवार्य है। इन दोनों को अगर संयुक्त करदें तो पहला कारण और दूसरा कार्य हो जाता है। और वास्तव में सभी ललित-कलाओं के—विशेषतः काव्य के और उससे भी

अधिक प्रणय-काव्य के—मूल में अतृप्त काम की प्रेरणा मानने में आपत्ति के लिए स्थान नहीं है।

महादेवीजी का एकाकी जीवन उनके काव्य में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित है। किसी अभाव ने ही उनके जीवन को एकाकिनी बरसात बना दिया है, सुख और दुलार के आधिक्य ने नहीं। अतिशय सुख और दुलार की प्रतिक्रिया से उत्पन्न दुःख का आकर्षण 'यामा' और 'दीप-शिखा' की सृष्टि नहीं कर सकता। परन्तु इस अतृप्ति को स्थूल शारीरिक अर्थ में ग्रहण करना महादेवीजी के संस्कृत एवं संयत व्यक्तित्व के प्रति अपराध होगा। क्योंकि, और नहीं तो स्वभाव से ही पुरुष और स्त्री कवियों के लिखे हुए प्रणय-गीतों में उनकी प्रकृति के अनुसार अन्तर मिलना अनिवार्य है। पुरुष कवि का प्रणय-निवेदन अधिक व्यक्त, अतएव ऐन्द्रिय एवं रोमानी होगा। स्त्री का प्रणय-निवेदन संयत, अतएव गार्हस्थिक होगा। पुरुष में रोमांस की उन्मुक्तता होगी, नारी में स्थायित्व का बन्धन। अतएव स्वीकृत रूप से लौकिक तल पर स्त्री-कवि का प्रणय एकमात्र स्वकीया का घरेलू प्रणय ही हो सकता है। स्त्री अपनी प्रकृति के कारण और बहुत-कुछ अंशों में सामाजिक रीति-नीति के कारण न तो असंयत उद्गारों को ही व्यक्त कर सकती है और न स्वकीय की सौमित्रि-रेखा से बाहर ही जा सकती है। प्राचीन लोक-गीतों की गायिकाओं से लेकर सर्व-श्री 'होमवती', 'उषा', 'चकोरी' आदि आधुनिक हिन्दी-कवयित्रियों तक यह बात अनिवार्य रूप से मिलेगी। जहाँ-कहीं भी लौकिक प्रणय की स्वीकृति है, वहाँ स्वकीया-भाव ही है। मीरा के तो अपार्थिव प्रेम में भी स्वकीया-भाव का आग्रह मिलता है।

स्वकीया की भावना को छोड़कर तो स्त्री के पास सिर्फ एक ही उपाय रह जाता है—अपार्थिव प्रणय अथवा अज्ञात के प्रति प्रणय-निवेदन। यह प्रणय-निवेदन मूलतः पार्थिव प्रेम पर आश्रित होते हुए भी तत्वतः उससे भिन्न होता है। अर्थात् इसमें ऐन्द्रियता सूक्ष्म-से-सूक्ष्म होती हुई अतीन्द्रियता-सी प्रतीत होने लगती है, यानी उसका संस्कार हो जाता है। परन्तु यह निश्चित है कि इस प्रणय-निवेदन में जो स्पन्दन होगा, वह प्रच्छन्न रूप से उसी आरम्भिक प्रेम का ही होगा।

सन्त-कवियों तथा सगुण भक्तों ने अपनी अभुक्त वासनाओं को एक ओर तो भगवान के चरणों पर उँडेलकर और दूसरी ओर सचराचर में वितरित कर

उनका संस्कार किया था। वह विश्वास और साधना का युग था। भगवान की प्रीति तब आज की अपेक्षा अधिक सरल थी। आज का कवि भगवान से नाता जोड़ने में अपने को असमर्थ पाता है। उसके लिए मानव-जाति से प्रीति बढ़ाना अपेक्षाकृत सरल है। इसलिए आज वासना के संस्कार की यही पद्धति व्यवहार्य है। महादेवीजी के जीवन में सन्तों की आत्मसाधना देखना तो उपहास्य होगा; परन्तु अपनी वासना का परिष्कार करने के लिए उन्होंने साधना की है और अब भी कर रही है, इसको अस्वीकार करना अनुचित होगा। उन्होंने बड़ी लगन से आध्यात्मिक साहित्य का अध्ययन किया है। अपने आस-पास के प्राणियों के साथ परिवार-सम्बन्ध जोड़ा है। पीड़ित वर्ग की सक्रिय सेवा में आनन्द लिया है। मैं समझता हूँ कि उनका काफी समय आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन और मनन में बीतता है। अतएव उनके गीतों में जो रहस्य-संकेत मिलते हैं वे पूर्णत: स्वानुभूत सत्य न होते हुए भी एकदम छायावाद-युग के कवि-समय-मात्र भी नहीं है। प्रत्यक्ष रूप से नहीं, तो अध्ययन के सहारे ही कवि को उनसे थोड़ा-बहुत परिचय अवश्य है।

यही बात कण-कण के प्रति बिखरी हुई उनकी स्नेह-विगलित करुणा के लिए भी कही जा सकती है। बुद्धि के प्रति ममत्व और दर्शन के अध्ययन का प्रभाव उस पर स्पष्ट रूप से पड़ा है—'इन गीतों ने पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अध्ययन की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव-सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव-प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।'

इस प्रकार दीप-शिखा के गीतों में जिन तत्त्वों की ओर निर्देश किया गया है, वे तीनों एक दूसरे से कार्य-कारण-सम्बन्ध में बँधे हुए हैं और कवि के अपने जीवन के सम्बन्ध से भी उनका पूरी तरह व्याख्यान हो जाता है।

यहाँ तक तो हुआ दीप-शिखा की प्रेरक अनुभूति का विश्लेषण, जो उनके गीतों को समझने में सहायक हो सकता है। परन्तु उनका मूल्यांकन करने के लिए अनुभूति की प्रकृति नहीं, उसकी शक्ति का विवेचन करना होगा। यानी अब हमें यह देखना है कि दीप-शिखा को जिस अनुभूति से प्रेरणा मिली है, उसमें कितनी तीव्रता है।

इस दृष्टि से हमें निराश होना पड़ेगा। कारण स्पष्ट है। इस अनुभूति के मूल में जो काम का स्पन्दन है, उसके ऊपर कवि ने चिन्तन और कल्पना के इतने आवरण चढ़ा रखे हैं कि स्वभावतः उसकी तीव्रता दब गई है और उसको टटोलने पर बहुत नीचे गहरे में एक हल्की-सी धड़कन मिलती है। साथ ही अनुभूति को पुञ्जीभूत होने का भी अवसर नहीं मिला। उसका वितरण प्रयत्न-पूर्वक किया गया है, इसलिए वह तीव्र न रहकर हल्की-हल्की बिखर गई है। स्पष्ट शब्दों में, इन गीतों में लोक-गीतों की जैसी मांस की उष्ण गन्ध प्रायः निःशेष हो गई है। दूसरी ओर बुद्धिजीवी महादेवीजी में सन्त वा भक्त कवियों का-सा विश्वास और समर्पण भी सम्भव नहीं हो सका। इसलिए उनके हृदय में अज्ञात के प्रति भी जिज्ञासा ही उत्पन्न हो सकी है, पीड़ा नहीं। कुल मिलाकर यह कहना होगा कि दीप-शिखा की प्रेरक अनुभूति छाँह-सी सूक्ष्म और मोम-सी मृदुल तो है, परन्तु हूक-सी तीव्र नहीं। एक स्थान पर स्वयं कवयित्री ने ही अपने गीत की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—

खोजता तुमको कहाँ से आ गया आलोक सपना
चौंक खोले पङ्ख तुमने याद आया कौन अपना
कुहर में तुम उड़ चले किस छाँह को पहचान।

स्वभावतः छाँह को पहचान कर कुहर में उड़ने वाले इन गीतों में विस्मय भरे मधुर संकेत तो स्थान-स्थान पर मिलेंगे; परन्तु लपककर हृदय को पकड़ने वाली पंक्तियां दुर्लभ ही हैं।

मधुर संकेतों के कुछ उदाहरण लीजिए :

१. तम ने वर्ती को जाना है,
वर्ती ने यह स्नेह, स्नेह ने रज का अञ्चल पहचाना है
चिर-बन्धन में बाँध मुझे घुलने का वर दे जाना

२. सुधि विद्युत् की तूली लेकर
मृदु व्योम फलक-सा उर उन्मन
मैं घोल अश्रु में ज्वाला-कण
चिर-मुक्त तुम्हीं को जीवन के बन्धन हित विकल दिखा जाती।

नीहार से लेकर दीप-शिखा तक आते-आते महादेवीजी की अनुभूति ने सूक्ष्मता और स्थिरता में जितनी वृद्धि की है, तीव्रता में उतनी क्षति भी भोगी है। इसका अर्थ यही है कि महादेवीजी का मन क्रमशः व्यक्तिगत पीड़ा को लोकव्यापी बनाता हुआ दुःखसुख का सामञ्जस्य स्थापित करता रहा है। यह सामञ्जस्य सर्व-प्रथम हमें नीरजा में मिलता है; परन्तु फिर भी उसमें व्यक्ति की पुकार दुर्बल नहीं पड़ी। सान्ध्य-गीत में आकर जिस अनुपात से पीड़ा का अव्यक्तीकरण हुआ है, उसी अनुपात से उसमें अनुभूति की तीव्रता भी कम हो गई है। दीप-शिखा इसी दिशा में एक अगला कदम है। सान्ध्य-गीत में जहाँ दुःख और सुख का सामञ्जस्य पूर्ण हुआ था, वहाँ दीप-शिखा में दुःख अपना दंशन खोकर सुख को समर्पण कर बैठा है। पीड़ा की ज्वाला यहाँ दीप-शिखा बन गई है, जो पृथ्वी के कण-कण को आलोक वितरित कर अपना घुल जाना ही वरदान मानती है। इस प्रकार दीपशिखा की अनुभूति में एक तो रज के प्रति ममत्व और दूसरे विश्वासमय अबन्ध गति—ये दो नवीन तत्त्व मिलते हैं जिनके लिए हमारे युग-जीवन की प्रवृत्तियाँ उत्तरदायी हैं।

महादेवीजी के गीतों में कला का मूल्य अक्षुण्ण है। भाषा के रङ्गों को हल्के-हल्के स्पर्श से मिलाते हुए मृदुल-तरल चित्र आँक देना उनकी कला की विशेषता है। पन्त की कला में जड़ाव और कढ़ाई है, फलतः उनके चित्रों की रेखाएँ पैनी होती हैं। महादेवी की कला में रङ्ग-घुली तरलता है, जैसी कि पंखुड़ियों पर पड़ी हुई ओस में होती है।

सान्ध्य-गीत में सन्ध्या की पृष्ठभूमि होने के कारण उनके चित्रों में रङ्गों का वैभव अधिक था; परन्तु दीप-शिखा के गीतों में उसके चित्रों की ही तरह केवल दो रङ्ग हैं—हल्का नीला और सफ़ेद। जहाँ कहीं अधिक रङ्गों का प्रयोग भी है, वहाँ ये सभी रङ्ग इस प्रकार मिला दिए गए हैं कि किसी की स्वतन्त्र सत्ता न रहे—इसीलिए तो इन चित्रों में पारद के मोतियों-जैसी कोमलता आ गई है :

> रात-सी नीरव व्यथा, तम-सी अगम मेरी कहानी
> फेरते हैं दृग सुनहले आँसुओं का क्षणिक पानी
> श्याम कर देगी इसे छू प्रात की मुस्कान !

महादेवीजी के गीतों में प्रयुक्त चित्र-सामग्री अत्यन्त परिमित है। इसलिए नीरजा के बाद से ही महादेवीजी के आलोचक को उनसे पुनरावृत्ति की शिकायत है। और यह शिकायत जितनी उचित है उतनी ही सकारण भी। एक कारण तो यही है कि कवि की अनुभूति का क्षेत्र ही सीमित है। दूसरा कारण यह है कि उसने सान्ध्य-गीत और दीप-शिखा के गीतों को एक निश्चित पृष्ठभूमि दी है—सान्ध्य-गीत को सन्ध्या की, दीप-शिखा को रात्रि की। यह सच है कि दीप-शिखा तक पहुँचते-पहुँचते नीरजा और सान्ध्य-गीत की पुनरावृत्तियों से ऊबा हुआ पाठक एकबार तो सचमुच झुँझला उठता है—वे ही दीपक और बादल के छाया-चित्रों के टुकड़े नाना प्रकार के आकार और वेश धारण कर उनके काव्य के आधार-फलक पर उड़ते-तैरते दिखाई देते हैं। बादल के चित्रों से तो कवि को बेहद मोह है। परन्तु झुंझलाहट उतर जाने पर यदि वह धैर्य-पूर्वक सूक्ष्म-दृष्टि से देखेगा तो उसे सूक्ष्म अवयवों की तरह-तरह की बारीकियाँ मिलेंगी। जैसे :

> तैर तम-जल में जिन्होंने ज्योति के बुद्बुद् जगाए,
> वे सजीले स्वर तुम्हारे क्षितिज-सीमा बाँध आये।
> हँस उठा कब अरुण शतदल-सा ज्वलित दिनमान।

गीत की अपनी टेकनीक होती है। वह अपने जन्म से ही वन्य-कण्ठों में पला है। इसलिए उसकी गति और लय में यहाँ तक कि उसकी शब्दावली में भी—वन्य संस्कार वर्त्तमान रहते हैं। यह असम्भव है कि एक सफल कलाकार कला-गीतों की रचना करते हुए इन वन्य गीतों की पंक्तियों को अनायास ही न गुनगुना उठे। सचमुच पाठक के संस्कार भी बिना इन स्पर्शों के गीत को गीत मानने के लिए तैयार नहीं होते। महादेवीजी इस ओर प्रारम्भ से ही सचेत रही हैं। दीप-शिखा की भूमिका में उन्होंने लोक-गीतों का प्रभाव स्वीकार भी किया है। नीरजा के कुछ गीतों की लय और शब्दावली में इस प्रकार के मधुर और मुखर संस्कार मिलते हैं। 'पथ देख बिता दी रैन, मैं प्रिय पहचानी नहीं' या 'मुखर पिक हौले बोल, हठीले हौले-हौले बोल'—जैसी पंक्तियों को गुनगुनाते हुए पाठक के मन में लोक-गीतों की समानान्तर पंक्तियाँ आप से आप दौड़ आती हैं। दीप-शिखा में भी 'मैं न यह पथ जानती री' या 'कहाँ से आए बादल काले'—जैसी पंक्तियों में कुछ ऐसा ही सौन्दर्य है, यद्यपि उतना नहीं जितना नीरजा के गीतों में है।

इस प्रकार प्रचलित लोक गीतो की वन्य गति-लय में अमूल्य काव्य-सामग्री भरकर महादेवीजी ने खड़ी-बोला की कविता में गीत के माध्यम को अमर कर दिया है।

गीत के आन्तरिक रूप का विश्लेषण यदि किया जाय तो वह कुछ इस प्रकार होगा।

कभी अनायास ही कवि के मन में कोई बात चमक जाती है और चिन्तन की हल्की-हल्की आँच से गल-गल कर वह एक पंक्ति के रूप में ढल जाती है। यही गीत की पहली पंक्ति है जो प्राय: चिन्तन का परिणाम होती है। इसके उपरान्त कवि उससे सम्बद्ध अन्य धूमिल भावनाओं को रूप देने का प्रयत्न करता है और गीत के अगले पदों की सृष्टि होती है। बस, इसी सृजन-प्रक्रिया में एक साथ कवि की मूल अनुभूति व्यक्त होकर शब्दों की पकड़ में आजाती है और सारा गीत चमक उठता है। अनुभूति-प्राण गीतों के सृजन का यही इतिहास है। बच्चन के कुछ भाव-दीप्त गीत इसके साक्षी हैं। परन्तु दीप-शिखा के अधिकांश गीतों में अनुभूति की तीव्रता के अभाव में ऐसा नहीं हो पाया। उनमें चिन्तन के प्राधान्य के कारण पहली पंक्ति के संकेत ही अधिक मधुर होते हैं।

दीप-शिखा की भूमिका का महत्व उसके गीतों से कम नहीं है। उसके विषय में सविस्तार चर्चा फिर कभी की जायगी। इस समय तो यही कहना पर्याप्त होगा कि आधुनिक तथाकथित प्रगतिशील या समाजवादी आलोचना की हलचल में काव्य के शाश्वत सत्यों के सहारे इस भूमिका में छायावाद की भव्य व्याख्या की गई है जिसका स्थान हिन्दी आलोचना के इतिहास में अमर रहेगा।

१७

महादेवी की आलोचक दृष्टि

जैसा मैंने एक और स्थान पर भी कहा है, महादेवी के काव्य में हमें छायावाद का शुद्ध अमिश्रित रूप मिलता है। छायावाद की अन्तर्मुखी अनुभूति, अशरीरी प्रेम, जो बाह्य-तृप्ति न पाकर अमांसल सौन्दर्य की सृष्टि करता है, मानव और प्रकृति के चेतन संस्पर्श, रहस्य-चिन्तन (अनुभूति नहीं), तितली के पंखों और फूलों की पंखड़ियों से चुराई हुई कला, और इन सबके ऊपर स्वप्न-सा पुरा हुआ एक वायवी वातावरण—ये सभी तत्व जिसमें घुले मिलते हैं, वह है महादेवी की कविता। महादेवी ने छायावाद को पढ़ा नहीं है, अनुभव किया है। अतएव साहित्य का विद्यार्थी उनकी विवेचना का आप्तवचन के समान ही आदर करेगा।

आज एक साथ ही महादेवीजी की लेखनी से उद्भूत विवेचनात्मक गद्य यथेष्ट रूप में हमारे सामने उपस्थित है। यामा, दीपशिखा और आधुनिक कवि की विस्तृत भूमिकायें, पत्रिकाओं में प्रकाशित 'चिन्तन के क्षणों में' और अब पुस्तकाकार प्राप्त उनके कतिपय लेख काव्य के सनातन सत्यों का जितना स्वच्छ उद्घाटन करते हैं, उतना ही आधुनिक साहित्य की गतिविधि का निरूपण भी।

साहित्य-दर्शन

महादेवी के साहित्य-दर्शन का आधार है भारतीय आदर्शवाद, जो जीवन और जगत् में एक सत्य की अखण्ड सत्ता मानता है। जगत् के खण्ड-खण्ड में अखण्डता प्राप्त करलेना ही सत्य है और उसकी विषमताओं में सामञ्जस्य देखना ही सौन्दर्य है। महादेवी इन्हीं दो तथ्यों को साहित्य के साध्य और साधन मानती हैं।

"......सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त, इसीसे साधन के परिचय-स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मयभरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।"

स्पष्ट शब्दों में, इसका अर्थ यह हुआ कि सौन्दर्य का सम्बन्ध रूप से होने के कारण वह हमारे निकट है, हमारा उससे स्नेह-परिचय है। रूपों की परिचित अनेकता की 'भावना' करता हुआ साहित्यकार जब क्रमशः उनकी मौलिक एकता की ओर बढ़ता है तो उसे एक विशिष्ट सामञ्जस्य-दृष्टि प्राप्त हो जाती है। यही सामञ्जस्य-दृष्टि साहित्य की मूल प्रेरणा है और स्वभावतः आनन्दरूपा है, क्योंकि आनन्द का अर्थ भी तो हमारी अन्तर्वृत्तियों का सामञ्जस्य ही है। 'रसो वै सः' को मानने वाला भारतीय साहित्यशास्त्र मूलतः इसी आनन्दरूप सामञ्जस्य या अखण्डता पर आधृत है। इसी से वह एक ओर साधारणीकरण के मौलिक तत्व तक पहुँच सका और दूसरी ओर क्रोध, शोक, जुगुप्सा और भय आदि में भी सात्विक आनन्द की उपलब्धि कर सका।

यहीं आकर साहित्य की उपयोगिता का भी प्रश्न हल हो जाता है। जिसका साध्य सत्य है, साधन सौन्दर्य है और प्रक्रिया आनन्दरूप, उस साहित्य की उपयोगिता जीवन की चरम उपयोगिता है। परन्तु उसका माध्यम स्थूल विधि-निषेध न हो कर आन्तरिक सामञ्जस्य ही है। इस प्रकार साहित्य एक ओर सिद्धान्तों का व्यवसाय होने से बच जाता है, दूसरी ओर सस्ता मनोरञ्जन होने से। इस रूप में स्वभावतः ही महादेवी साहित्य को एक शाश्वत सत्य मानती हैं। अनेकता में एकता ढूँढने वाली उसकी दृष्टि जीवन और साहित्य के सनातन सिद्धान्तों और मूल्यों को लेकर चलती है, जो परिवर्तनों के बीच भी अक्षुण्ण रहते हैं।

"यह सत्य है कि संस्कृति की बाह्य रूप-रेखा बदलती रहती है, परन्तु मूल-तत्त्वों का बदल जाना तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक उस जाति के पैरों के नीचे से वह विशेष भूखण्ड और उसे चारों ओर से घेर लेने वाला विशेष वायुमण्डल ही न हटा लिया जाय।"

अतएव यह स्पष्ट है कि महादेवी कविता को गणित के अंकों में घटित होने वाला एक तथ्य-मात्र न मान कर, मूल रूप में रहस्यानुभूति ही मानती है। उपर्युक्त उद्धरण में एकता की स्थिति को विस्मय-भरी कहने का यही तात्पर्य है। एक स्थान पर उन्होंने अपना मन्तव्य असंदिग्ध शब्दों में व्यक्त ही किया है :

'व्यापक अर्थ में तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौन्दर्य या

प्रत्येक सामञ्जस्य की अनुभूति भी रहस्यानुभूति है। यदि एक सौन्दर्य-अंश या सामञ्जस्य-खण्ड हमारे सामने किसी व्यापक सौन्दर्य का द्वार नहीं खोल देता तो हमारे अन्तर्गत का उल्लास से आलोकित हो उठना सम्भव नहीं।"

वास्तव में कविता के ही नहीं जीवन के विषय में भी उनकी यही रहस्यात्मक भावना है। "मनुष्य चाहे प्रकृति के जड़ उपादानों का संघात-विशेष माना जावे और चाहे किसी व्यापक चेतना का अंशभूत, परन्तु किसी भी अवस्था में उसका जीवन इतना सरल नहीं है कि हम उसकी पूर्ण तृप्ति के लिए गणित के अंकों के समान एक निश्चित सिद्धान्त दे सकें।" इसलिए उनका दृष्टिकोण विदेश के भूतवादी दार्शनिकों के दृष्टिकोण से जो जीवन को काम या केवल अर्थ पर केन्द्रित मान कर चलते हैं, मूलतः भिन्न है! उनकी दृष्टि समन्वयवादी है जो काम और अर्थ के आंशिक महत्व को तो मुक्त कण्ठ से स्वीकार करती है परन्तु जीवन को समग्रतः इनकी ही इकाइयों में घटाना स्वीकार नहीं करती। भौतिक यथार्थवाद को वे पूर्णतः स्वीकार तो करती हैं, परन्तु निरपेक्ष रूप में नहीं, आध्यात्मिक आदर्श के साथ। जीवन की खण्ड-खण्ड विविधता ही भौतिक यथार्थ है, अखण्ड एकता ही आध्यात्मिक आदर्श। पहला पदार्थ या अर्थ-काम के घटकों में आँका जा सकता है, दूसरा अनुभूति का ही विषय होने के कारण निश्चय ही थोड़ा-बहुत रहस्यमय है।" इसी-लिये एक ओर महादेवीजी साहित्य के व्याख्यान में भौतिक वातावरण को उचित महत्त्व देती है, दूसरी ओर वह सामञ्जस्य या एकता की आध्यात्मिक कसौटी का उपयोग करती हैं।

इसी प्रकार वे काव्यानन्द को भी ऐन्द्रिय संवेदनों में न ढूंढ कर प्राण-चेतना के उस सूक्ष्म धरातल पर ढूंढती हैं जहाँ बुद्धि और चित्त, ज्ञान और अनुभूति का पूर्ण सामञ्जस्य हो जाता है, जो चिन्तन का धरातल है, जहाँ भट्टनायक या अभिनव के शब्दों में सतोगुण, तमस् और रजस् पर विजयी होता है। यहाँ आकर उनकी स्थिति एक ओर अति-बुद्धिवादी और दूसरी ओर अति-रसवादी साहित्यकारों से भिन्न हो जाती है।

सामञ्जस्य की यह दृष्टि, दूसरे शब्दों में संतुलन और संयम की दृष्टि है जिसमें किसी भी प्रकार के अतिचार को, जीवन-प्रवाह के उन असाधारण क्षणों को जहां संतुलन और संयम तट के मृत्तिका-खण्डों की तरह बह जाते

है. स्थान नहीं। यह दृष्टि या तो जीवन के साधारण धरातल पर ही रुक जाती है और या फिर एकदम पूर्ण स्थिति—वाल्मीकि, व्यास, शेक्सपियर पर ही रुकती है। इसलिए यह अमृत-दृष्टि बायरन जैसे विषपायियों के प्रति, जो सामञ्जस्य और संतुलन की अवस्था तक नहीं पहुँच पाये हैं, सदैव कितनी क्रूर रही है। एक ओर सामञ्जस्य-द्रष्टा रवीन्द्र माईकेल को क्षमा नहीं कर पाये थे, और दूसरी ओर सामञ्जस्य-द्रष्टा महादेवी उग्र या अंचल को क्षमा नहीं कर सकतीं। इनकी शक्ति को ये लोग आत्म-घातिनी शक्ति कह कर छोड़ देंगे। परन्तु क्या यह उचित है ? सत्य यह है कि यह सामञ्जस्य नैतिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त नहीं हो सका, इसलिये एक स्थान पर जाकर उसमें भेद-बुद्धि उत्पन्न हो ही जाती है। महादेवी के साहित्यिक मान नैतिकता के बोझ से काफी दबे हुए हैं, इसमें सन्देह नहीं। और इसमें उनका स्त्रीत्व बाधक हुआ है, जो मर्यादा से बाहर जीवन की मुक्ति खोजने का अभ्यासी नहीं है। और, वास्तव में अभी महादेवीजी की दृष्टि पूर्ण सामञ्जस्य की अधिकारिणी भी नहीं हो पायी। क्योंकि उसमें पुरुषत्व से भिन्न नारीत्व की इतनी प्रखर चेतना वर्तमान है कि वह पुरुष को आततायी प्रतिद्वन्द्वी के अतिरिक्त और कुछ कठिनाई से ही समझ पाती है। महादेवी जैसे उन्नत व्यक्तित्व में यह भाव अवश्य किसी ग्रन्थि की ही अभिव्यक्ति है जो अभी उलझी रह गई है।

सामयिक समस्या

इन सिद्धान्तों का उपयोग उन्होंने आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विवेचन में किया है और यहाँ हमें महादेवीजी का सक्रिय आलोचक रूप मिलता है। छायावाद और प्रगतिवाद से सम्बद्ध लगलग सभी महत्वपूर्ण प्रसङ्गों पर उन्होंने सम्यक् प्रकाश डाला है जो संक्रान्ति की इस कुहरवेला में फैली हुई अनेक भ्रांतियों को दूर कर देता है। इन प्रसङ्गों में से मुख्यतम प्रसङ्ग छायावाद को लेकर आइये बहस की जाय—

छायावाद

"मनुष्य का जीवन चक्र की तरह घूमता रहता है। स्वच्छन्द घूमते-घूमते थक कर वह अपने लिए सहस्र बन्धनों का आविष्कार कर डालता है

और फिर बन्धनों से ऊब कर उनको तोड़ने में सारी शक्तियाँ लगा देता है।"

"छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव में छिपा हुआ है। उसके जन्म से प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा।"

"स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छायावाद उपयुक्त ही था, और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।"

"छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्व को मिला कर पूर्णता पाता है।"

"बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव्य-भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी हुई सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की, और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिला कर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, छायावाद, आदि अनेक नामों का भार संभाल सकी।"

"छायावाद करुणा की छाया में सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक सर्ववाद ही है।"

इस प्रकार महादेवीजी के अनुसार :

१, छायावाद की मूलचेतना है सर्ववाद और इसकी भाव-भूमि है मुख्यतः प्रकृति, क्योंकि सर्ववाद की व्यञ्जना का मुख्य माध्यम वही है।

२. इस सामान्य चेतना पर कवि के व्यक्तिगत सुख-दुःख की चेतना का गहरा प्रभाव है। वास्तव में सिद्धान्त में समष्टिवादी होती हुई भी यह चेतना व्यवहार में व्यष्टिवादी ही है।

३. सर्ववाद निसर्गतः ही करुणा को जन्म देता है, अतएव जन्म से ही छायावाद पर करुणा की छाया है।

४. उसका उद्गम-स्थान हमारी प्राण-चेतना का वह सूक्ष्म धरातल है जहाँ बुद्धि और चित्त का संयोग होता है। अर्थात् छायावाद चिन्तन के क्षणों की उद्भूति है। अतएव वह स्वभावतः ही अन्तर्मुखी कविता है।

५. छायावाद में मूर्त्त और अमूर्त्त के सामञ्जस्य की पूर्णता है।

उपर्युक्त विवेचन मेरी अपनी धारणाओं के इतना निकट है कि इसमें विशेष आपत्ति के लिए स्थान नहीं है। फिर भी ऐसा अवश्य लगता है कि महादेवीजी ने छायावाद की तन्वी कविता पर दर्शन का बोझ कुछ अधिक लाद दिया है। अपने मूल-रूप में छायावाद द्विवेदी-युग की स्थूल प्रवृत्तियों के विरोध में जगी हुई जीवन के प्रति एक रोमानी प्रतिक्रिया थी—स्थूल उपयोगिता के स्थान पर जिसमें एक रहस्योन्मुखी भावुकता थी। सामयिक परिस्थितियों के अनुरोध से जीवन से रस और मांस ग्रहण न कर सकने के कारण वह एक तो वाञ्छित शक्ति का सञ्चय नहीं कर पायी, दूसरे एकान्त अन्तर्मुखी हो गई। इस प्रकार उसके आविर्भाव में मानसिक दमन और अतृप्तियों का बहुत बड़ा योग है, इसको कैसे भुलाया जा सकता है ?

महादेवीजी ने कविता की तात्विक परिभाषा में छायावाद को कुछ ऐसा फिट कर दिया है कि वह कविता के परिपूर्ण क्षणों की वाणी ही लगता है—यह स्वभावतः असत्य है। छायावाद की अपनी सीमाएँ हैं। उसकी कविताओं में जितनी सूक्ष्मता है उतनी शक्ति नहीं, जितनी सुकुमारता है उतनी तीव्रता नहीं, जितना अरूप-चिन्तन है उतना मांसल रस नहीं आ सका—इसका निषेध कैसे किया जा सकता है ! हमारे दो प्रतिनिधि कवि पन्त और महादेवी जीवन में पूरी तरह उतर ही नहीं पाये। जब जीवन की भूख तड़पती थी तब तो वे परिस्थितिवश उसे झुठलाते रहे और जब भूख मन्द पड़ गई तब ये जीवन में उतरे—पर इस समय उसका संस्कार करने के अतिरिक्त इनके पास दूसरा कोई उपाय नहीं रहा। संस्कार में रस तभी आता है जब उसके द्वारा खौलती हुई वासनाओं से संघर्ष कर उन पर विजय प्राप्त की जाती है। प्रसाद और निराला में स्थान-स्थान पर वह भूख हुँकार उठी है, और वहीं वे महान् काव्य की सृष्टि कर सके हैं।

आलोचना शक्ति

महादेवीजी की आलोचना-शैली चिन्तन की शैली है, जिसमें विचार और अनुभूति का संयोग है। वह जैसे बौद्धिक तथ्यों को पचा-पचाकर हमारे समक्ष रखती हैं। निदान बौद्धिक तीक्ष्णता तो उनके विवेचन में इतनी नहीं मिलती, परन्तु संश्लेषण सर्वत्र मिलता है। कहीं भी किसी प्रकार की उलझन नहीं है। यह दूसरी बात है कि पाठक को उसे तत्काल ग्रहण कर लेने में कठिनाई हो। क्योंकि उसका तो कारण है—यह कि विचार की अपेक्षा चिन्तन

को ग्रहण करने में देर लगती है। शुक्लजी की शास्त्रीय गवेषणा से सर्वथा भिन्न यह शैली प्रसाद और पन्त की ठोस बौद्धिक विवेचना की अपेक्षा टैगोर की लचीली काव्य-चिन्तना के अधिक समीप है।

एक दूसरी विशेषता जो महादेवी की आलोचना में मिलती है वह है ऐतिहासिक एक-सूत्रता, जो सामञ्जस्य को जीवन का और साहित्य का मूलाधार मानकर चलने वाले आलोचक के लिए स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए एक ओर उन्होंने छायावाद की प्रकृति-भावना का वेदों से आरम्भ होने वाली प्रकृति-भावना की भारतीय परम्परा के साथ बड़ी सुन्दरता के साथ सम्बन्ध-निरूपण किया है; दूसरी ओर आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों का समाज की आर्थिक परम्पराओं के साथ। इसलिए उनकी आलोचना प्रायः एकाङ्गी नहीं हुई। उसमें अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों का संतुलन है और जीवन की विस्तृत भूमिका पर रखकर भी साहित्य को उसके अतिप्रत्यक्ष प्रश्नों से बचाए रखने का विवेक और सुरुचि है।

सारतः महादेवी के ये निबन्ध काव्य के शाश्वत सिद्धान्तों के अमर व्याख्यान हैं। आज साहित्यिक मूल्यों के बवण्डर में भटका हुआ जिज्ञासु इन्हें आलोक स्तम्भ मानकर बहुत कुछ स्थिरता पा सकता है।

१८

'त्यागपत्र' और 'नारी'

प्रेमचन्दजी के सभी उपन्यास हिन्दी के मूर्धन्य पद पर आसीन होने योग्य नहीं हैं। 'गोदान' उनकी सबसे महत्वपूर्ण कृति है। उसके अतिरिक्त 'ग़बन', 'सेवासदन', 'रङ्गभूमि' आदि में भी बहुत-कुछ है जो अमर रहेगा। हिन्दी में इनसे टक्कर लेने वाले उपन्यास बहुत नहीं प्रकाशित हुए। जो हुए वे उँगलियों पर गिने जा सकते हैं, जैसे 'त्यागपत्र', 'नारी', 'चित्रलेखा', 'शेखर' इत्यादि।

समय और सुविधा को देखते हुए यहाँ मैं श्री जैनेन्द्रकुमार के 'त्याग-पत्र' और श्री सियारामशरण गुप्त के 'नारी' उपन्यासों को लूँगा। ये दोनों उपन्यास मुझे काफ़ी प्रिय हैं। इनमें कुछ इस प्रकार की समता और विषमता है जो तुलनात्मक अध्ययन को रोचक और उपयोगी बना देती है।

त्यागपत्र और नारी दोनों ही में एक नारी की कहानी है। त्यागपत्र एकमात्र मृणाल की व्यक्तिगत कहानी है, और नारी जमुना की। मृणाल और जमुना दोनों के ही व्यक्तित्वों के मूल में अतृप्ति है। दोनों ही हमारे सन्मुख एक अभुक्त वासना लिये आती है। मृणाल के तो जीवन का ही आरम्भ इस अतृप्ति से होता है। उसके माता-पिता नहीं हैं। भाई का स्नेह उनके स्नेह की कमी को भर नहीं पाता। उसको स्नेह की झलक एक दूसरे व्यक्ति से मिलती है। पर मिलने के साथ ही वह एक तीखा घाव छोड़कर सदा के लिए मिट जाती है। भावज की कठोर ताड़ना उस अभाव की अग्नि को और भी भड़काती है, और अन्त में उसका बेमेल विवाह एवं पति की यन्त्रणाएँ इस जीवन-व्यापी अतृप्ति में पूर्ण आहुति बन जाती है। इस प्रकार वासना पूर्णतः अभुक्त और अतृप्त रहकर उसके जीवन में एक अद्भुत गति और शक्ति का सञ्चरण करती है। जीवन के मध्याह्न तक तो उसे इस वासना के संस्कार का उचित माध्यम नहीं मिल पाता, और वह एक उद्दाम तीव्रता लिये झुलसती और झुलसाती—जीवन को मानों चीरती हुई—भटकती रहती है। बीच में वह पातिव्रत की बात करती है, अपने पति के साथ

समझौते का प्रयत्न करती है, एक अत्यन्त निकृष्ट व्यक्ति—कोयले वाले—के साथ ममता का खेल करती है, पत्नी-धर्म के निर्वाह का दावा करती है। पर यह सब कुछ जैसे एक तीखा व्यंग्य है। सचमुच चारों ओर से नकार प्राप्त कर मृणाल का जीवन ही एक तीव्र व्यंग्य बन गया है।

जमुना का व्यक्तित्व व्यंगमय नहीं है। कारण यह है कि उसमें आरम्भ से ही निषेध और स्वीकृति का मिश्रण रहा है। उसको चारों ओर से नकार ही नहीं मिला। आरम्भ में पति का मुक्त प्रणयदान, उसके चले जाने पर श्वसुर का स्निग्ध वात्सल्य, और उनके मरने के बाद हल्ली के स्नेह में उसे जीवन की मधुर स्वीकृति भी मिली है। इसके साथ ही बाद में पति की उपेक्षा में, गाँवों वालों के—विशेषकर चौधरी के—कटु-व्यवहार में उसे तिरस्कार भी मिला है। परन्तु कुल मिलाकर वास्तव में यह नकार उस स्वीकृति से कहीं हल्का बैठता है। इसीलिए जमुना कई बार विचलित होकर भी विश्वास नहीं खो पाती, जीवन की स्वीकृति का अपमान नहीं कर पाती। जीवन की चरम परिणति में भी—जब वह पति का ध्यान छोड़ एक दूसरे व्यक्ति को ग्रहण करने का निश्चय कर लेती है—वह जीवन को स्वीकार ही करती है, उसका निषेध नहीं करती। उसके जीवन में अतृप्ति है। उसकी वासना प्रणय के अभाव में अतृप्त और अभुक्त रहती है। परन्तु उसके साथ ही उसको व्यक्त और तुष्ट करने का साधन भी तो पुत्र-रूप में उसके पास है। वह गृहिणी है। गृहस्थ-जीवन की मर्यादा का भी, जिसके समतल थामले में हल्ली-जैसा सुन्दर पौधा पनप रहा है, उसकी वासना पर अधिकार है। इसलिए उसके व्यक्तित्व में मृणाल की-सी तीव्रता और गति नहीं रह गई; परन्तु विश्वास की प्रशान्त गम्भीरता उसमें है। मृणाल यदि लैम्प की प्रखर लौ है जिसमें प्रकाश के साथ विषाक्त धुआँ भी है तो जमुना घृत का स्निग्ध दीपक है जिसमें प्रकाश चाहे हल्का हो पर धुआँ बिल्कुल नहीं है।

इन दोनों पात्रों के व्यक्तित्वों के अनुसार ही दोनों उपन्यासों के मूल प्रश्नों में भी साम्य है।

इन दोनों रचयिताओं की विचारधारा की एक दिशा है। दोनों ही दार्शनिक या सामाजिक शब्दावली में गाँधी-नीति में, और मनोविश्लेषण की शब्दावली में आत्म-पीड़न में विश्वास करते है। दोनों ही एक स्वर में कह

"सचमुच जो शास्त्र से नहीं मिलता वह ज्ञान आत्मव्यथा में मिल-जाता है।"—त्यागपत्र

"लोग ऊपर-ऊपर देखते हैं कि इसे दुःख है। किसी को दुःख ही दुःख हो तो वह जिन्दा कैसे रहे ? आज तो पूरा उपाय करने की सोच ली है। आनन्द इसमें भी है।"—नारी

और अधिक स्पष्ट किया जाय तो वास्तव में इस दृष्टिकोण का निर्माण अहिंसा के आधार पर काम की स्वीकृति के द्वारा हुआ है।

दोनों उपन्यासों में आत्म-व्यथा में जीवन की शक्ति का मूल स्रोत माना गया है। कष्ट के कारणों से घृणा न करते हुए, कष्ट की अनिवार्यता से त्रास न खाकर, उसमें आनन्द की भावना करना अहिंसा है; और अहिंसा यह सिखाती है कि अभुक्त वासना का वितरण करना ही उसकी सफलता है। मृणाल अन्त में जाकर इसी उपचार को ग्रहण करने में अपनी मुक्ति समझती है। जमुना में यह भावना प्रारम्भ से ही वर्तमान है। परन्तु दोनों के दृष्टि-कोणों में एक अन्तर है—नारी की विचार धारा में समाज-नीति की मर्यादा का रक्षण है, परन्तु त्यागपत्र में यह बात नहीं है। जमुना के स्रष्टा ने इस बात का ध्यान रखा है कि दूसरे व्यक्ति को ग्रहण करने में भी वह समाज-नीति काउ ल्लङ्घन न कर पाये। जमुना जिस वर्ग की नारी है, उसमें पुनर्विवाह या दूसरा घर बसा लेना जायज है। इसके विपरीत त्यागपत्र में सामाजिक मानों को अन्तिम स्वीकृति नहीं है। पति के होते भी मृणाल अपने प्रति सद्व्यवहार करने वाले व्यक्ति को शरीर-समर्पण कर बैठती है और उत्तेजना में आकर नहीं, ठण्डे मस्तिष्क से। जैनेन्द्रजी नीति की चहारदीवारी को तोड़ जीवन में प्रवेश करना शायद आत्म-कल्याण के लिए उचित समझते हैं, परन्तु सियारामशरणजी समाज की मर्यादा-भङ्ग करना श्रेयस्कर नहीं मानते।

दोनों उपन्यासों के मूल प्रश्नों को ऋजु-शैली से समझिए :

सबसे पहले दो नारियाँ अपने जीवन का संघर्ष लेकर हमारे सामने आती हैं और हमारे मन में प्रश्न उठता है कि नारी-जीवन की मुक्ति किस में है—विवाह की मर्यादा में, या प्रवृत्ति के उपभोग में ? प्रत्यक्ष रूप में यही धारणा होती है कि सियारामशरणजी प्रवृत्ति को स्वीकार करते हुए भी विवाह की मर्यादा के पक्ष में हैं और जैनेन्द्रजी समाज-मर्यादा का आदर करते हुए भी प्रवृत्ति के ही समर्थक हैं। पर यह तो हमारे अध्ययन की पहली मंजिल है।

त्यागपत्र और नारी का मूल प्रश्न अभी हमारे हाथ नहीं आया। अभी और आगे चलना है और उसके लिए हमें मृणाल और जमुना के व्यक्तित्वों के पार देखना पड़ेगा क्योंकि त्यागपत्र और नारी स्पष्टतः ही सामाजिक समस्या के उपन्यास नहीं हैं। उनका—विशेषकर त्यागपत्र का—सम्बन्ध मानव-जीवन के मौलिक प्रश्न से है : जीवन की मुक्ति क्या है ?

त्यागपत्र के साथ यह विशेषता लगा देने का अर्थ यह है कि नारी में पाठक की दृष्टि उसके सामाजिक समस्या वाले पहलू पर अपेक्षाकृत अधिक ठहरती है : मृणाल की अपेक्षा जमुना समाज की इकाई ज्यादा है, उसके जीवन में सामाजिक समस्या भी थोड़ा-बहुत महत्त्व तो रखती ही है। लेकिन फिर भी यह पहिली मंजिल तो आप को पार करनी ही होगी, तभी आप इन उपन्यासों की अन्तर्धारा में प्रवेश कर सकेंगे। यहाँ आकर मृणाल और जमुना उपलक्ष्य बन जाते हैं—समाज तथा पुरुष और नारी के आवरणों को पार कर जैसे ये दोनों शुद्ध व्यक्ति रह जाते हैं और जीवन का समाधान ढूँढने में व्यस्त दिखाई देते हैं ! विधान या प्रवृत्ति ?—यह इनका मूल प्रश्न है और यही सामाजिक मानव का चिरन्तन प्रश्न भी है।

जैसा मैंने ऊपर कहा, जैनेन्द्रजी विधान का साधारण रूप में आदर करते हुए भी अन्तिम परिणति पर पहुँच कर उसका निषेध कर देते हैं। सर एम० दयाल का त्यागपत्र पर सही करना स्पष्ट रूप में जैनेन्द्रजी का विधान के निषेध पर सही करना है। वह महसूस करते हैं : "कहीं कुछ गड़बड़ है। कहीं क्यों ? सब गड़बड़ ही गड़बड़ है : सृष्टि ग़लत है। समाज ग़लत है······इसमें तर्क नहीं है, सङ्गति नहीं है, कुछ नहीं है। इससे जरूर कुछ होना होगा, जरूर कुछ करना होगा।"

आगे एक प्रश्न उठता है—'पर क्या···आ ?' यहाँ आकर अधिकांश संक्रान्ति-काल के विचारकों की भाँति वे घबराकर रुक जाते हैं। परन्तु उनकी आस्था, जिसका पोषण गांधी-नीति के प्रभाव में हुआ है, उनकी मदद करती है; और वे अहिंसा या तपस्या में जीवन का समाधान मान लेते हैं—यद्यपि वह पूर्णतः उसके घट में उतर जाता है, इसमें मुझे सन्देह है। उनके पास एक यही उत्तर है और यही उत्तर सियारामशरणजी के पास भी है। दोनों का प्रश्न एक है, उत्तर भी एक है, परन्तु क्रिया भिन्न है।

सियारामशरण जी को जीवन-विधान की गड़बड़ का इतना तीखा

.नुभव नहीं होता, लेकिन वे उस पर सन्देह अवश्य करते हैं। उसको तोड़ने का लोभ भी उनको कम नहीं होता है—क़रीब-क़रीब तोड़ ही देते हैं—लेकिन अन्त में उन्हें उसी की ओर लौटना पड़ता है। वे मानो इस प्रकार सोचते हों—पीड़ा जीवन में अनिवार्य है, उसी में आनन्द की भावना कर लेना जीवन का समाधान प्राप्त कर लेना है; और प्रवृत्ति के बन्धन की पीड़ा ही सच्ची पीड़ा है।

इस प्रकार आत्म-पीड़न की फिलॉसफी में विश्वास रखने वाले ये लेखक दो विभिन्न क्रियाओं द्वारा जीवन का समाधान ढूँढ निकालते हैं—जैनेन्द्रजी विधान से युद्ध करते हुए और सियारामशरणजी प्रवृत्ति से लड़ते हुए।

दृष्टिकोण का यही अन्तर दोनों व्यक्तित्वों के अंतर को स्पस्ट कर देता है। प्रवृत्ति के समर्थक जैनेन्द्रजी का अहं स्वभावतः ही अधिक बलिष्ठ और तीखा होना चाहिए, उधर विधान में आस्था रखने वाले सियारामशरणजी में अधिक आत्मनिषेध होना उतना ही स्वभाविक है। दोनों व्यक्तियों का जीवनादर्श एक है—पूर्ण अहिंसा की स्थिति प्राप्त कर लेना, अर्थात् अपने अहं को पूर्णतः घुला देना। इस साध्य के लिए सियारामशरणजी की साधना अधिक हार्दिक है, नैतिक दमन का अभ्यास उनको अधिक है, और उनका अहं सचमुच बहुत काफ़ी घुल चुका है। अहिंसा बहुत कुछ उनके व्यक्तित्व का अङ्ग बन चुकी है। इसके विपरीत जैनेन्द्र का अहं अब भी इतना सजग और पैना है कि उनकी सादगी, विनम्रता और सरलता को चीरता हुआ क्षण-क्षण सामने आ जाता है। इसीलिए अपने प्राप्य के लिए उनको सियारामशरण की अपेक्षा अधिक संघर्ष करना पड़ता है। उनके जीवन में संघर्ष अधिक है, ठीक उतना ही अधिक जितना मृणाल के जीवन में जमुना की अपेक्षा। सियारामशरणजी में हृदय का अंश अधिक है, वे अधिक आस्तिक हैं। जैनेन्द्रजी में बुद्धि की तीव्रता है, अतएव उनके मन में सन्देह का संघर्ष अधिक है। इसीलिए जैनेन्द्र अधिक व्यक्तिवादी हैं—सियारामशरणजी में सामाजिकता की भावना अधिक है। सियारामशरणजी के लिए अहिंसा का आदर्श कुछ सीमा तक प्राप्त भी है, परन्तु जैनेन्द्रजी के लिए अभी वह एक प्राप्य-मात्र है। उनकी जगरूक मेधा और उससे भी अधिक जागरूक अहङ्कार स्वभाव से ही अहिंसा के आत्म-निषेध के प्रतिकूल हैं। इसीलिए उनको उसके प्रति आग्रह अधिक है। यही कारण है कि उनके उपन्यास में संघर्ष तीखा और सशक्त है।

मेरी अपनी धारणा यह है कि साहित्य की शक्ति और तीव्रता उसके

स्रष्टा के अहं की शक्ति और तीव्रता के अनुसार ही होती है । दुःख अथवा किसी भी कारण से दबा हुआ अहं, यहाँ तक कि घुला हुआ अहं भी, आर्द्रता की ही सृष्टि कर पाता है, शक्ति की नहीं । निदान त्यागपत्र में जहाँ तीव्रता है वहाँ नारी में आर्द्रता है ।

शैली में भी दोनों का वही सम्बन्ध है जो उनके व्यक्तित्व में—यानी त्यागपत्र की शैली में तीखापन और वक्रता है नारी की शैली में कोमलता और सरलता है । त्यागपत्र की कहानी जैसे दिल और दिमाग को चीरती हुई आगे बढ़ती है, और नारी की कहानी को सुनकर जैसे पीड़ा मधुर-मधुर घुल उठती है । त्यागपत्र की शैली में कठोर निर्ममता है उसके कुछ क्षणों की निर्ममता तो असह्य है । अगर आपके सामने कोई व्यक्ति मुँह की रङ्गत को बिगाड़ता हुआ तकलीफ़ के साथ जहर पीता हो तो आप कैसा महसूस करेंगे ? और अगर यही व्यक्ति बिना किसी प्रकार के भाव-परिवर्तन के गम्भीरता के साथ जहर को गट-गट कर जाय, तो आपको कैसा लगेगा ? मृणाल की कुछ आत्म-यन्त्रणाएँ ऐसी ही हैं । इसके विपरीत नारी की शैली में घरेलू स्निग्धता है । जमुना आत्म-व्यथा में विश्वास करती हुई भी अपने प्रति स्निग्ध और करुण है । अतएव नारी की कहानी में कोमल-स्निग्ध गति है । उसमें हृदय को स्पर्श करने वाले स्थल अनेक हैं, हृदय को चीरने वाले स्थल नहीं हैं । नारी की यह करुण कहानी हल्ली के बाल-सुलभ क्रिया-व्यापारों से मन बहलाती हुई धीरे-धीरे आगे बढ़ती है—यहाँ तक कि कहीं-कहीं इसकी गति मन्द पड़ जाती है और पाठक सोचता है कि हल्ली के ये खेल और मुकदमे कुछ कम होते तो अच्छा था, क्योंकि कहीं-कहीं वे कहानी को उलझा देते हैं । नारी की कहानी का यह दोष उसके प्रभाव में बाधक होता है ।

इन दोनों कहानियों की गठन में एक-एक स्थल ऐसा मिलता है जहाँ पाठक का मन रुककर उसकी स्वाभाविकता पर सन्देह कर उठता है ।

त्यागपत्र में जब मृणाल पति के घर से निकल कर एक कोयले वाल को ग्रहण कर लेती है तो शायद अनेक पाठकों की भाँति मेरा मन भी पूछ उठता है—क्या एक शिक्षिता मध्य-वर्गीय बाला के लिए यह स्वाभाविक है ? क्या वह अपने पैरों पर नहीं खड़ी हो सकती थी, जैसा कि उसने बाद में कुछ दिन के लिए किया ? और अगर उसे किसी पुरुष के सहारे की ही आवश्यकता थी तो क्या कोयले वाले की अपेक्षा अच्छे चुनाव की गुञ्जाइश नहीं थी ? यह सन्देह एक बार जरूर उठता है । लेकिन इसका समाधान

प्राप्त कर लेना भी समझदार पाठक के लिए असम्भव नहीं है। मृणाल के व्यक्तित्व में बुद्धि और संवेदना की प्रखरता के कारण एक असाधारणता है। अतएव एक साधारण मध्यवर्ग की युवती को दृष्टि में रखकर उसके व्यवहार की समीक्षा करना ग़लत होगा। जीवन में नकार पाकर उसका स्वभाव से ही संवेदनाशील मन अतिशय संवेदनाशील हो गया है। बस, उस आख़िरी धक्के से यह एक बार कुछ समय के लिए समग्रतः डूब जाता है। ऐसी स्थिति में चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता—उस पर अहसान करने वाला पहला पुरुष बड़ी आसानी से कुछ समय के लिए तो उसके जीवन में प्रवेश कर ही सकता है। बड़े-बड़े करोड़पतियों की स्त्रियाँ फ़क़ीरों के साथ भाग जाती हैं! और मृणाल के साथ तो यह स्थिति मानसिक विवशता के अतिरिक्त चैलेञ्ज का परिणाम भी हो सकती है!! शरत् के पाठक को इस प्रकार के पात्रों को ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

नारी में भी एक स्थल सन्देहप्रद है। ज्यों ही जमुना की कहानी अन्तिम स्थिति पर पहुँचती है हल्ली का एक साथी हीरा, सिर्फ़ हल्ली से बदला लेने के लिए, जमुना के पति को एक ऐसा पत्र लिख देता है कि सारा खेल बिगड़ जाता है। यह पत्र इतना कौशलपूर्ण है कि इस को हीरा-जैसा छोटा बालक तभी लिख सकता था जब सियारामशरणजी इबारत बोलते गये होते। माना कि यह घटना जमुना के व्यक्तित्व-विकास में प्रत्यक्ष-रूप से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है, परन्तु कथा के विकास में इसका महत्त्व असंदिग्ध है। इसकी त्रुटि कथा-शिल्प की एक त्रुटि है। इसका समाधान मुझे बहुत सोचने पर भी नहीं मिल पाया।

यहीं आकर जैनेन्द्रजी और सियारामशरणजी की शैली का एक और अन्तर स्पष्ट हो जाता है—जैनेन्द्रजी अपनी शैली के प्रति जागरूक हैं: प्रभाव को तीव्र करने के लिए उन्होंने सचेत होकर कोशिश की है। उन्होंने इसीलिए संवेदना के मापक रूप में सर एम० दयाल की सृष्टि की है। वह प्रभाव को तीव्र करते जाते हैं और पारा धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता जाता है। अन्त में मृणाल की मृत्यु पर, जैसे ताप के सीमा पार कर जाने से यन्त्र टूट जाता है, सर एम० दयाल जजी से स्तीफ़ा दे देते हैं। यह उपन्यास-शिल्पी का अद्भुत कौशल है। इसलिए जब कभी जैनेन्द्रजी सादगी में आकर टेकनीक या शिल्प से सर्वथा अबोध होने की बात करने लगते हैं तो हँसी आ जाती है।

उधर सियारामशरणजी का लक्ष्य—कम-से-कम नारी में—एक सीधी-सच्ची करुण-स्निग्ध कहानी ही रहा है। उन्होंने जागरूक होकर प्रभाव को तीव्र करने का प्रयत्न नहीं किया, या किया है तो इतने हल्के हाथों से कि वह लक्षित नहीं होता। उदाहरण के लिए आप वह स्थल ले सकते हैं जहाँ एक दूसरा व्यक्ति जमुना के जीवन में प्रवेश करता है और जमुना उसे समर्पण कर देती है। यह सब ऐसे होता है जैसे कुछ हुआ ही न हो। पाठक के मन में जमुना के जीवन का यह महत्त्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार सरक जाता है कि वह बिलकुल नहीं चौंकता। इसके विपरीत आप मृणाल का समर्पण लीजिए। उसमें कितना व्यंग्य है, कितनी कचोट है, कितनी तीव्रता है! उसके जीवन का यह तथ्य पाठक के मन को चीरता हुआ, उसकी वृत्तियों को झनझनाता हुआ, प्रवेश करता है।

त्यागपत्र का कौशल अपनी विदग्धता के बल पर अपने मेधावी शिल्पी की दुहाई देता है, और नारी का कौशल अपने को छिपा कर अपने स्नेहार्द्र शिल्पी की सिफ़ारिश करता है।

१६

अज्ञेय और शेखर

शेखर का दूसरा भाग अभी कुछ दिन हुए, तीन-चार वर्ष के अन्तराय के उपरान्त, प्रकाशित हुआ है। यद्यपि पहले और दूसरे भागों में शेखर सम्पूर्ण नहीं है—अभी कुछ और भी है जो सामने आयेगा—और वास्तव में तभी हमारा दृष्टिकोण भी निश्चित एवं स्थिर हो सकेगा—फिर भी तीसर (और शायद चौथे भी ?—) भाग का अभाव शेखर की गरिमा और सौन्दर्य को ग्रहण करने में विशेष बाधक नहीं होता।

शेखर हिन्दी के उन गौरव-ग्रन्थों में से है जो प्रत्येक जागरूक आलोचक का आह्वान कर कहते हैं—"आओ, हमारे सहारे अपनी शक्ति की परीक्षा करो।" और सचमुच उसमें इतना-कुछ है जो मन और मस्तिष्क को उद्वेलित करता है कि उसे पढ़कर मौन हो जाना, अगर वह लेखक की आत्मा से सायुज्य स्थापित कर लेना नहीं है तो, निश्चय ही साहित्यिक चेतना के दौर्बल्य का द्योतक है।

शेखर एक शक्ति-पूर्ण व्यक्ति का अपने जीवन का प्रत्यालोकन है। और चूँकि इस व्यक्ति को शीघ्र ही फाँसी पा जाने का लगभग निश्चय-सा है, इसलिए इस प्रत्यालोकन मे एक अनिवार्य तीव्रता आ गई है, जिसके कारण अपने जीवन के आर-पार देख लेना उसे सहज-सम्भव हो गया है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, मृत्यु का साक्षात्कार हठयोग की एक सफल क्रिया है जो मनुष्य को प्रायः अन्तर्भेदी दृष्टि प्रदान कर देती है। यह दृष्टि केवल साधन-शक्ति—केवल देखने वाली शक्ति नहीं होती। इसका एक आत्म रूप भी होता है, जो देखत-नहीं दीखता है। उसे ही लेखक ने विज़न कहा है। पहले दो भागों में इस विज़न की झिलमिली ही मिलती है—पूर्ण दर्शन शायद तीसरे में होगा—इसलिए हम इसे अभी छोड़ देते हैं। इसक द्वारा जो देखा गया वही हमारा आलोच्य है। अस्तु !

शेखर के पहले भाग में एक संक्षिप्त परन्तु अत्यन्त मूल्यवान् भूमिका

दी हुई है। उसके तीन चरण हैं। पहले में शेखर के सृजन-क्षणों की व्याख्या है। दूसरे में हिन्दी के ना समझ पाठक उसे कहीं लेखक की आत्म-जीवनी न समझ बैठें इस बात का सतर्क और सप्रमाण—आधुनिक अंग्रेज़ी साहित्यकार इलियट के साक्ष्य के साथ—प्रतिषेध है। और तीसरे में शेखर के प्लान की ओर संकेत है। इनमें पहला और तीसरा भाग जितना सत्य और सटीक है, दूसरा भाग उतना ही झूठ लगता है—लगता है मैं इसलिए कह रहा हूँ कि इससे अधिक समर्थ शब्दावली का प्रयोग कर नहीं सकता हूँ। आप एक बार फिर भूमिका के इस द्वितीय चरण को पढ़िए; और मुझे विश्वास है कि आप भी यह आसानी से पकड़ पाएंगे कि उसमे एक ऐसा आदमी झूठ बोलने का प्रयत्न कर रहा है जिसे उसका अभ्यास नहीं है। इसीलिए उसकी तर्क-पद्धति में असङ्गति है, उसके वाक्यों में उलझन है, जैसे कोई सत्य का गला घोंट रहा हो और वह छटपटा रहा हो। इलियट के क्लासीकल आदर्श की दुहाई इतने ज़ोर से देने के पूर्व अज्ञेय ने एक बात नहीं सोची कि रूढ़िवादी विचार-धारा के कवि इलियट और रूढ़ि को किसी भी रूप में सत्य न मानने वाले शेखर के स्रष्टा में कम-से-कम जीवन-दर्शन का कोई साम्य नहीं है। फिर कोई भी व्यक्ति अपने सभी कवचों के बावजूद भी इतना अज्ञेय नहीं बन सकता कि दूसरे उसके विषय में सर्वथा अंधकार मे ही रहें और अपनी आंखों से न देख-कर जो वह कह दे उसे मान लें। हमारी यह धारणा है कि शेखर और अज्ञेय में भोक्ता और कलाकार का अन्तर मानना दोनों के प्रति अन्याय करना है। अतएव हम यह मानकर चलते हैं कि शेखर अज्ञेय के अपने ही जीवन का प्रत्यालोकन है और उसकी घटनाएँ जीवन के प्रति सच्ची है—जो नहीं हैं वे ज़बरदस्ती तोड़ी-मोड़ी और गढ़ी हुई साफ़ नज़र आ जाती है।

शेखर के पढ़ने के उपरान्त पाठक के मन पर दो प्रभाव पड़ते हैं। एक अभिभूत करने वाली शक्ति का और दूसरा गहरी करुणा का। गहरी से मेरा अभिप्राय यह है कि इसकी करुणा सतह पर नहीं है। अतएव उसमे तुरन्त ही हृदय को काटने वाली करुणा नहीं मिलती, दूर पहुँच कर गहरे में कचोटने वाली करुणा ही मिलती है। परन्तु ये दोनों तत्त्व पृथक् नहीं हैं—इनमे पूर्वापर कार्य-कारण सम्बन्ध स्पष्ट है—अर्थात् यह शक्ति ही अन्त मे अपनी एकान्तता में करुण बन जाती है।

शेखर की शक्ति उसके अदम्य अहङ्कार की शक्ति है जो अभ्रभेदी त्रिशूल की तरह ऊपर को बढ़ रही है। शेखर की जितनी घटनाएँ हैं वे जैसे

एक माला के मनके है जिनका सुमेरु है उसका अहं। उसने पाना ही जाना है देना नहीं। इस विषय में आप बस उसकी एक उक्ति ही सुन लीजिए—"मुझे मूर्त्ति उतनी नहीं चाहिए, मुझे मूर्त्ति-पूजक चाहिए। मुझे कोई ऐसा उतना नहीं चाहिए जिसकी ओर मै देखूँ, मुझे वह चाहिए जो मेरी ओर देखे। यह नहीं कि मुझे आदर्श पुरुष नहीं चाहिएँ, पर उन्हें मै स्वयं बना सकता हूँ। मुझे चाहिए आदर्श का उपासक, क्योंकि वह मैं नहीं बना सकता। अपने लिए ईश्वर-रचना मेरे बस में है, लेकिन मेरी ईश्वरता का पुजारी—वह नहीं...।" आरम्भ से ही उसने अहङ्कार को इतने समग्ररूप में स्वीकृत कर लिया है कि वह अपने सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों से उसके पोषण की माँग करता है। पुरुषों से वह आदर माँगता है, स्त्रियों से प्यार। और वे जैसे-जैसे उसकी इस माँग को पूरा करते है उसी के अनुसार उसकी उनके प्रति प्रतिक्रिया होती है। पिता की कठोरता को भी उसने जो एक भव्य-रूप दिया है, उसका भी एकमात्र कारण यही है कि उनकी अपनी गौरव-भावना और कठोरता के नीचे ऐसा कुछ उसे अवश्य मिल जाता है जो बड़े अभिमान से उसके अहं को दुलारता है। माँ को उसके प्रति स्नेह नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु वे बेचारी उसकी यह माँग पूरी करने में असमर्थ रहीं। इसलिए उसने जीवन-भर उन्हें क्षमा नहीं किया। इस विषय मे वह इतना निर्मम है कि माँ को घृणा का पहला पाठ पढ़ाने का श्रेय भी वह नहीं दे सकता। उसके जीवन में कई स्त्रियाँ थोड़े-थोड़े समय के लिए आती है। पहिले उसकी बड़ी बहन सरस्वती, फिर शीला, फिर शारदा। रुग्णा शान्ति का भी नाम लिया जा सकता है। ये सभी उसे प्यार देती ही है। जो कुछ पाती है वह अधिक-से-अधिक एक हलका-सा आत्म-द्रव ही होता है : उसमें वह सम्पूर्ण आत्म-प्रणति नहीं होती, वह आत्मोत्सर्ग नहीं होता जिसे प्यार का पूरा नाम दिया जा सके।

अब दो व्यक्ति रह जाते है जिनके प्रति वह प्रणत होता है—एक बाबा मदनसिंह, दूसरी शशि। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या बाबा मदनसिंह के प्रति भी वह आत्म-प्रणति का अनुभव नहीं करता, और क्या शशि के प्रति भी उसकी भावना आत्मोत्सर्ग नहीं है? बाबा मदनसिंह का यातना-पूत व्यक्तित्व उसको झुका देता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु आप थोड़ी बारीकी से देखेंगे तो आपको स्पष्ट हो जायगा कि बाबा की विनय में और उनके सूत्रों मे बराबर उसके अहं को खाद्य मिलता रहा है। अपने

को झुका कर तोड़ देने वाले इस व्यक्ति के सूत्रों में शेखर को अपने अहंवाद का जो समर्थन मिला वह अन्यत्र दुर्लभ था।

अब शशि को लीजिए। जिस शशि के लिए वह इतना संघर्ष करता है, इतने कष्ट सहता है, जिसके उपचार में वह अपनी पूरी शक्ति लगा देता है, जिसके प्रति उसका सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य तुषारधवल गिरि-शृंग की तरह पिघल उठता है, क्या उसके प्रति वह आत्मा का उत्सर्ग नहीं करता? वास्तव में शशि-शेखर का अंतिम प्रसङ्ग रस से इतना भीगा हुआ है कि यहाँ तो 'हाँ!' कह देने का लोभ हो उठता है। परन्तु यहाँ भी शेखर के स्वयं अपने शब्द उद्धृत कर हम अपनी धारणा को ही पुष्ट करेंगे।

"तुम वह सान रही हो जिस पर मेरा जीवन बराबर चढ़ाया जाकर तेज होता रहा है, जिस पर मँज-मँज कर मैं कुछ बना हूँ, जो संसार के आगे खड़ा होने में लज्जित नहीं है।···तुम जीवित नहीं हो। मेरे, शेखर के, बनने में ही तुम टूट गई हो—शायद स्वयं शेखर के हाथों ही टूट गई हो।" आप देखिए, शशि का अस्तित्व शेखर के लिए है, शेखर का शशि के लिए नहीं! अपने भव्यतम क्षणों में भी शेखर नहीं भूल पाता कि उसका और शशि का सम्बन्ध तलवार और सान का सम्बन्ध है। सान का अस्तित्व तलवार के लिए है—इसलिए शशि ही शेखर के लिए जीती है, उसी के लिए मर जाती है। इतना बलिष्ठ अहं इससे कम खाद्य पाकर क्या सन्तुष्ट होता!

शेखर और उसके स्रष्टा को एकरूप देखने वाला पाठक यहाँ आकर इस घटना पर चौंक सकता है। परन्तु यह एक सतर्क क्रिया है। यहाँ अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अज्ञेय ने इलियट के सिद्धान्त को अपनाते हुए अपने आत्म से पलायन किया है। उसकी ज़रूरत और तकलीफ़ आसानी से समझी जा सकती है—आत्म-कथा लिखने में पूर्ण सत्य का निर्वाह शायद कोई गांधी ही कर पाता हो!

इतना सर्व-ग्राही अहं निश्चय ही अपनी नग्नता में एकान्त और एकान्तता में करुण होगा—यह एक सहज परिणाम है; इसी लिए तो मैंने कहा कि शेखर की महत्ता और दीनता में अभिन्न सम्बन्ध है। मैंने आरम्भ में ही कहा था कि शेखर जीवन का एक अध्ययन है। परन्तु यह जीवन व्यक्ति का जीवन है, समाज या युग का जीवन नहीं है। मेरा यह मत अज्ञेय की अपनी स्थापना से भिन्न है। वे कहते हैं कि शेखर एक व्यक्ति का अभिन्नतम

निजी दस्तावेज़ होने के साथ युग-संघर्ष का भी प्रतिबिम्ब है। उनका आग्रह है कि उसमें उनका समाज और उनका युग बोलता है। निस्संदेह शेखर में उसके स्रष्टा के समाज और युग की जाति-वैषम्य, हिंसा-अहिंसा, स्त्रियों की सामाजिक स्थिति आदि गम्भीर समस्याओं का विश्लेषण अत्यन्त सूक्ष्म-गहन है। परन्तु उसमें समाज और युग नहीं बोलते, शेखर—अज्ञेय बोलता है। यह सभी समाज के प्रवहमान जीवन का अंग नहीं है, शेखर की चेतना—उसके चिन्तन का ही अंग है। यह विवेचन सामाजिक जीवन के आलोड़न में से नहीं निकला, शेखर की अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं का ही समीकरण है, और स्पष्ट शब्दों में, इन प्रश्नों का विवेचन जीवित नहीं है, केवल विचारित है। इसलिए वह विश्लेषण पर समाप्त हो जाता है—संश्लेषण और समाधान पर नहीं पहुँच पाता। मैं अपनी पुष्टि के लिए एक बार फिर शेखर के ही शब्दों की शरण लेता हूँ—"जो व्यक्ति के लिए ऊँची-से-ऊँची चोटी तक ऊबड़-खाबड़ पगडण्डी दिखाने को तैयार है, किन्तु समष्टि के लिए थोड़ी-सी दूर तक भी प्रशस्त पथ बतलाने के लिए रुक नहीं सकता।" पूछा जा सकता है कि आखिर व्यक्ति के लिए ही शेखर क्या देता है? तो वास्तव में, जैसा मैंने आरम्भ में ही कह दिया है, अभी उसकी देन मूर्तरूप में, एक बँधे हुए सन्देश के रूप में, सामने नहीं आई। हो सकता है तीसरे भाग में आए—और बहुत मुमकिन है न भी आए। क्योंकि अज्ञेय स्वयं ऐसा कुछ पा सके है, इसमें ही बड़ा सन्देह है—उनके प्रयोग अभी तो चल ही रहे हैं।

फिर भी शेखर की आत्म-अनुभूति बड़ी तीव्र और सच्ची है और उसकी बुद्धि इतनी ही प्रखर है। इसलिए अपने अनुभूत सत्य को बुद्धि के द्वारा अन्वित करके सूत्र में उपस्थित कर देना उसके लिए अत्यन्त सहज हुआ है। और, शेखर हमें जीवन के चिर-मौलिक प्रश्न अहं से सम्बद्ध कुछ आत्मानुभूत सूत्र देता है।

"दुःख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है जो उसे दूर करने की कोशिश नहीं करता है।"

"किसी के विरुद्ध लड़ना पर्याप्त नहीं है—किसी के लिए लड़ना भी जरूरी है।"

पहला सूत्र शशि ने दिया है, दूसरा उसी के आलोक में शेखर ने प्राप्त किया है। सन्देश के नाम पर शेखर के दो भागों में इतना ही है।

परन्तु इसका तात्पर्य्य यह नहीं कि शेखर का अपना कोई जीवन-दर्शन नहीं है—तात्त्विक धरातल पर वह कार्य्य-कारणवाद को काफ़ी मज़बूती से पकड़े बैठा है। जीवन और जगत् के सभी तथ्यों की कार्य-कारण-परम्परा में उसका अखण्ड विश्वास है। यह मूलतः उसे अपने अहंवाद और फिर आधुनिक विज्ञान विशेषतः मनोविश्लेषण'विज्ञान की देन है। कार्य्य-कारणवाद एक अभावात्मक दर्शन है। वह जीवन का विश्लेषण करके छोड़ देता है, संश्लेषण तक नहीं पहुँच पाता। इसलिए भारत में बहुत पहले से और विदेश में भी काफ़ी दिनों से उसका विरोध होता रहा है। इसी कारण शेखर तत्व के धरातल पर नास्तिक है और समाज के धरातल पर निरुद्देश्य क्रांतिकारी, जो एतादृशत्व मात्र को उलटने के लिए टकरा रहा है। यह कार्य्य-कारणवाद शेखर के जीवन को कुछ दे पाया या नहीं—[और वास्तव में 'नहीं' कहना सर्वथा मिथ्या होगा क्योंकि वह शेखर के सुख का कारण तो नहीं रहा परन्तु शक्ति का कारण अवश्य रहा है]—परन्तु उसकी कला को उसने एक अमूल्य निधि भेंट की है।

यह है उसकी बौद्धिक तटस्थता जो अपनी निर्ममता के कारण विश्लेषण के क्षेत्र में अद्वितीय है। मनोगुम्फों की तहों में इतना गहरा घुसने वाला कलाकार हिन्दी उपन्यास ने दूसरा पैदा नहीं किया। आप कहीं पर देख लीजिए, लेखक की दृष्टि जैसे तथ्य के भीतर घुसती ही चली जाती है—भीतर बहुत भीतर, जहाँ उसका कारण छिपा बैठा है। उससे पहले वह नहीं रुकती, नहीं रुक सकती। बस, फिर पर्त्त के पर्त्त खुलते चले जाते हैं। यह तटस्थता शेखर को काफ़ी ईमानदार बना देती है—दूसरों के प्रति भी और अपने प्रति भी। दूसरों के विश्लेषण में तो उसकी दृष्टि वस्तुगत ही है; अपने प्रति भी वह काफ़ी हद तक वस्तुगत ही है। इतने भयङ्कर अहंवाद और उस पर आश्रित आत्म-प्रश्रय के बावजूद उसने चित्रण में दूर तक वस्तुगत दृष्टि को स्थिर रखा है, यह कलाकार की बहुत बड़ी विजय है।

यहाँ अपनी बात को ज़रा और स्पष्ट करना होगा। अहंवाद व आत्म-प्रश्रय और वस्तुगत दृष्टि क्या ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं ? जो आत्म-प्रश्रय का अभ्यस्त है वह अपना वस्तुगत चित्रण कैसे कर सकता है ? परन्तु बात ऐसी नहीं है। अहंवाद तो शेखर के लिए एक सत्य है, एक अनिवार्य तथ्य है, जिसे वह पूर्णरूप से स्वीकार कर चलता है। परन्तु उसको स्वीकार करने के बाद,

उसको अनिवार्य तथ्य मान लेने के उपरान्त, वह जैसे उसके प्रति तटस्थ होने का पूरा प्रयत्न करता है। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो वह अवश्य ही या तो उससे पीड़ित होकर उसकी भर्त्सना करता या उसमें गौरव की अनुभूति करता। परन्तु वह इन दोनों भावगत या आत्मगत प्रतिक्रियाओं को काफ़ी हद तक बचाता हुआ अपने विश्लेषण को बौद्धिक एवं वैज्ञानिक बनाए रखने में सफल हुआ है। इसका प्रमाण यह है कि उसके रङ्ग प्रायः चटकीले नहीं हुए।

अतएव कम-से-कम जहाँ तक अङ्कन का सम्बन्ध है वहाँ तक शेखर की वस्तुगत दृष्टि काफ़ी स्थिर रही है। आत्मगत भावना है तो उसमें अनिवार्यतः ही, परन्तु वह बड़ी प्रच्छन्न और सूक्ष्म-तरल है। उदाहरण के लिए आरम्भिक भावन में शेखर को स्पष्ट ही बहुत कुछ काट-छाँट करनी पड़ी है। उसमें एक भी घटना ऐसी नहीं दी गई जो उसकी क्षुद्रता की द्योतक हो। परन्तु इतनी आत्मगत भावना का अधिकार तो साहित्य-सृजन के लिए अनिवार्यतः देना ही पड़ेगा। आत्मभाव के इसी सूक्ष्म संयमन के कारण ही शेखर की अंकन-कला हिन्दी की एक विभूति बन गई है। वह अपनी कारीगरी और नक्काशी मे एकदम पूरी है।

आप कल्पना कीजिए मृत्यु के साक्षात्कार से दीप्त एक पारदर्शी क्षण। उसमें सहज रूप से जीवन का प्रत्यालोचन। धीरे-धीरे जीवन की घटनाएँ उठती हुई चली आती है। पहिले वे जिनका व्यक्ति के अन्तरतम पर सब से गहरा प्रभाव है। जो उसके निर्माण के मूल-तत्त्वों से सम्बद्ध हैं। फिर धीरे-धीरे उनके साथ गुँथी हुई प्रासङ्गिक घटनाएँ। इस घटना-चक्र का केन्द्र है व्यक्ति का अहं जो कार्य-कारण के सूत्र में इन सभी को गुम्फित कर देता है। घटनाएँ स्वभावतः बिखरी हुई है। परन्तु वे अहं के विद्युत-सूत्रों से खिचकर इतने सहज रूप मे समीकृत हो गई है—करदी गई है—कि उनका गुम्फन सर्वथा निर्दोष बन गया है।

फिर इसके उपरान्त उनके सूक्ष्म अवयवों पर पच्चीकारी की गई है—अकन में अन्विति और अलंकरण दोनों का सौन्दर्य आ गया है। अवयवों का यह अलंकरण अनायास ही शेखर की समृद्ध भाषा की ओर सकेत करता है, जो अपनी प्रौढ़ि और सौन्दर्य में अद्वितीय है। वह मनोगुम्फों की उलझनों को इतनी स्वच्छता से चित्रित करता है और मन और मस्तिष्क की तरल

सूक्ष्मताओं को इतनी बारीकी से शब्द-बद्ध करती है कि पाठक को चकित रह जाना पड़ता है। उसमें तीखी वीचियों से खेलने वाली सूक्ष्मता है, आवेश को भर लेने वाली उष्णता है और उदात्त क्षणों में विराट् अनुभूति तक उठने की महान् शक्ति है। सर्वत्र आपको ऐसा लगेगा कि अनुभूति पर जैसे तीव्र चिन्तन की धार ने शान रख दी हो और वह चमक उठी हो। शेखर की साधारण पंक्तियाँ भी इस चमक के बिना नहीं मिलेंगी, भाव-दीप्त प्रसङ्गों की तो बात ही क्या ? वास्तव में केवल भाषा की दृष्टि से ही हिन्दी गद्य के विकास में शेखर एक बहुत बड़ा मार्गस्तम्भ है। गद्य-निर्माताओं में अज्ञेय का नाम चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकरप्रसाद और राहुल सांकृत्यायन आदि के साथ लिया जायेगा।

शेखर से मुझ को और मेरे समान हिन्दी के और भी बहुत से पाठकों को एक शिकायत रही है। उसमें रस क्षीण है, या यों कहें उसमें रस के क्षण अत्यन्त विरल हैं। पहले भाग का उत्तरार्ध—शारदा के प्रसङ्ग को छोड़ कर—और दूसरे भाग का पूर्वार्ध पढ़ने में काफ़ी बोझल लगते हैं। केवल मन को रमाने के लिए पढ़ने वाले पाठक को उनको पार करने में प्रयत्न करना पड़ेगा। परन्तु जैसा मैंने एक और स्थान पर कहा है शेखर का आनन्द बौद्धिक आनन्द है—तटस्थता का आनन्द, भाव के संयम का आनन्द है। वह आत्म-संरक्षण का आनन्द है, जो आत्मदान के आनन्द से भिन्न है, और कहा जा सकता है कि निम्नतर भी है। सत्य का, वस्तु का, भरसक ईमानदारी से अपने राग-द्वेषों को दूर रखकर चित्रण करना, साधारण से कहीं अधिक मानसिक-शिक्षण और संतुलन की अपेक्षा करता है। इस शिक्षण और संतुलन में एक प्रकार के बुद्धि-नियन्त्रित संयम का आनन्द है, और यह आनन्द शेखर के विश्लेषण में आपको अनिवार्यतः मिलेगा।

दूसरे प्रकार के आनन्द का भी अत्यन्त अभाव नहीं है। जहाँ-जहाँ शेखर अपने को ढीला कर पाया है वहीं दूसरे प्रकार के आनन्द की भी लहरें उसके आत्म-बद्ध प्राणों से फूट पड़ी हैं। ये लहरें सघन नहीं हैं। परन्तु इनमें एक तीव्रता अवश्य है जैसी कि बन्धन तोड़कर उछलने वाली पतली-से-पतली धारा में भी होती है। प्रकृति के चित्रों में; सरस्वती, शीला, शान्ति और शारदा के प्रसङ्गों में; और मोहसिन और रामजी के संकेत-चित्रों में यह बात स्पष्ट है। रुग्णा शान्ति से उसके गले की स्नायु-रेखा का स्पर्श करने की

प्रार्थना कितनी सरस-कोमल है ! इन सबसे आगे शशि का प्रसङ्ग है, जहाँ शेखर आत्म-चेतना को लगभग डुबो ही देता है । साल-भर तक घनीभूत तुषार-राशि को आपने ग्रीष्म सूर्य्य की किरणों से पहले धीरे-धीरे फिर पुञ्ज-रूप में पिघलते हुए देखा है ? न देखा हो तो कल्पना कर लीजिए । तब आपको शशि-शेखर प्रसङ्ग के पूत-सौन्दर्य का अनुभव हो सकेगा । तब आप सहज ही समझ सकेंगे कि पूर्व और पश्चिम की दृष्टि में जो जघन्य पाप है—बहिन के प्रति रति—उसको पवित्र रूप देने के लिए हृदय में कितने सतोगुण की आवश्यकता हुई होगी ।

इस अन्तिम रस-स्थिति पर पहुँच कर मेरा मन यात्रा के सभी श्रम को भूल कर लेखक के प्रति एक अमिश्रित कृतज्ञ-भाव से भर जाता है । क्या आप मुझ से सहमत नहीं हैं ?